

# समरथ



जनवरी-मार्च 2019 • नई दिल्ली



वल्गारस जेटकलन

05 जुलाई 1857 — 20 जून 1933

---

# नाहि तो जन्म नसाई

राष्ट्रवाद के शोर के बीच कवि भगवत रावत की एक कविता

## देश एक राग है

इस बार छब्बीस जनवरी पर  
मैं देश के नाम सन्देश देना चाहता था  
राष्ट्र के नाम नहीं  
देश के नाम  
जानता हूँ ऐसे सन्देश केवल  
राष्ट्रपति और प्रधानमंत्री समय-समय पर देते रहे हैं  
जो राष्ट्र के नाम प्रसारित किये जाते हैं  
इन संदेशों की कोई विवशता होगी  
तभी तो उनकी भाषा ऐसी तयशुदा होती है कि  
उनमें कहीं कोई उतार-चढ़ाव नहीं होता  
न कहीं मार्मिक स्पर्श

होश संभालने के बाद पिछले पचास वर्षों से  
सुनता आ रहा हूँ ऐसे सन्देश और किसी का कोई एक  
वाक्य भी ठीक से याद नहीं  
मजेदार बात यह है कि 'देशवासियों' जैसे  
आत्मीय संबोधनों से प्रारंभ होने वाले ये सन्देश  
देश को भूलकर राष्ट्र-राष्ट्र कहते नहीं थकते  
राष्ट्र की मजबूती, राष्ट्र की गरिमा  
राष्ट्र की संप्रभुता, राष्ट्रेत्थान जैसे विशेषणवाची  
अलंकरणों से मंडित  
ये आत्ममुग्धता और आत्मश्लाघा  
के उदाहरण बनकर रह जाते हैं  
मुझे कुछ समझ में नहीं आता  
मेरी उलझन बढ़ती ही जाती है  
कि देश के भीतर राष्ट्र है या राष्ट्र के भीतर देश

दोनों में कौन किससे छोटा, बड़ा  
सर्वोपरि या गौण है  
इस विवाद में न पढ़ें तो भी  
दोनों एक ही हैं यह मानने का मन नहीं करता

अव्वल तो कोई किसी का पर्याय नहीं होता  
फिर भी सुविधा के लिए मान ही लें तो  
देश का पर्याय राष्ट्र कैसे हो गया  
अर्थात् देश में संध लगाकर कब राष्ट्र घुस आया  
इसका पुख्ता कोई ना कोई कारण और इतिहास होगा ही,  
पर मेरा कवि मन आज तक  
उसको स्वीकार नहीं कर पाया  
और यदि इसका उलटा ही मान लें,  
कि सबसे पुराना राष्ट्र ही है तो  
हज़ारों सालों से कहाँ गायब हुआ पड़ा था  
तत्सम शब्दावली की कहीं-कहीं पोथियों-पुराणों के अलावा

देश-देशान्तरों की मार्मिक कथाओं से भरा पडा है  
सारी दुनिया का इतिहास  
राष्ट्रों की कहानियां कौन सुनता-सुनाता है  
अब आप ही बताइये  
कि क्या कोई ठीक-ठीक बता सकता है कि कब  
देश कि जगह राष्ट्र और राष्ट्र की जगह देश  
कहा जा सकता है

हमारे जवान देश की सीमाओं की रक्षा करते हैं  
हम देश का इतिहास और भूगोल पढ़ते-पढ़ाते हैं  
सन् सैंतालीस में हमारा देश आजाद हुआ था  
मैं भारत देश का नागरिक हूँ  
ऐसे सैकड़ों वाक्य पढ़ते-पढ़ाते बीत गयी उम्र  
जब-जब, जहां-जहां तक आँखें फैलाई  
दूर-दूर तक देश ही देश नज़र आया  
राष्ट्र कहीं दिखा नहीं

आज भी बड़े-बड़े शहरों से मेहनत-मजदूरी करके जब  
अपने-अपने घर-गाँव लौटते हैं लोग तो एक दूसरे से  
यही कहते हैं कि वे अपने देश जा रहे हैं  
वे अपने पशुओं-पक्षियों, खेतों-खलिहानों  
नदियों-तालाबों, कुओं-बावड़ियों, पहाड़ों-जंगलों,  
मैदानों-रेगिस्तानों,  
बोली-बानियों, पहनावों-पोशाकों, खान-पान  
रीति-रिवाज और नाच गानों से इतना प्यार करते हैं  
कि कुछ न होते हुए गाँठ में  
भागे चले जाते हैं हज़ारों मील ट्रेन में सफ़र करते  
बीड़ी फूंकते हुए

वे सच्चे देश भक्त हैं  
वे नहीं जानते राष्ट्र-भक्त कैसे हुआ जाता है  
आजादी की लड़ाई में हँसते-हँसते फांसी के फंदों पर  
झूलने वाले देश-भक्ति के गीत गाते-गाते  
शहीद हो जाते थे  
ऊपर कही गई बातों में से देश की जगह राष्ट्र रखकर  
कोई बोलकर तो देखे  
राष्ट्र-राष्ट्र कहते-कहते जुबान न लड़खड़ाने लगे  
तो मेरा नाम बदल देना  
वहीं एक वाक्य में दस बार भी आये देश तो  
मीठा ही लगेगा शहद की तरह

देश एक राग है  
सुवासित-सुभाषित सा फैलता हुआ धीरे-धीरे  
स्नेहित तरंगों की तरह बाहर से भीतर तक  
भीतर से बाहर तक  
स्वयं अपनी सीमाएं लांघता  
सुगन्धित मंद-मंद पवन की तरह

सारी दुनिया को शीतल करता धीरे-धीरे  
सारी दुनिया का हिस्सा हो जाता है

कितना भी पुराना और पवित्र रहा हो राष्ट्र शब्द का इतिहास  
पर आज पता नहीं क्यों बार-बार  
यह शब्द एक भारी भरकम बनायी गयी ऐसी अस्वाभाविक  
डरावनी आवाज़ लगता है जो सत्ता और शक्ति के  
अहंकार में न जाने किसको  
ललकारने के लिए उपजी है  
अपना बिगुल खुद बजाती जिससे एक ही शब्द  
ध्वनित होता सुनायी देता है  
सावधान!  
सावधान!  
सावधान!

मैं देश के नाम सन्देश देने के बारे में कह रहा था  
और कहाँ से कहाँ निकल गया  
यह सही है कि मैं न देश का राष्ट्रपति हूँ  
न प्रधानमंत्री, न कोई सांसद, न विधायक  
यहाँ तक कि किसी नगरपालिका का कोई  
निर्वाचित सदस्य तक नहीं हूँ

पर सभी ये कहते हैं कि ये जो अच्छे-बुरे जो भी हैं  
सब मेरे ही कारण हैं  
मैंने ही बनाया है उन्हें  
तो इसी नागरिक अधिकार के साथ मेरा देश के नाम सन्देश  
क्यों प्रसारित नहीं किया जा सकता  
की स्वतन्त्र भारत न गढ़ पाने की कोई दबी-छिपी रह गयी  
गुलाम मानसिकता  
या परायों के तंत्र से मुक्त न हो पाने की कोई विवशता

आप जो भी कहें  
और आप पूरी तरह मुझे गलत भी साबित कर दें  
और जो आप कर भी सकते हैं  
कहाँ-कहाँ से पुराणों और पोथियों से प्रमाण  
खोजकर ला सकते हैं और मुझे चारों खाने चित्त कर सकते हैं  
पर जो सामाजिक इतिहास मुझे दिखाई देता है  
राष्ट्रों का वह कतई आत्मीय नहीं है

अपने ही भारत देश के बारे में सोचकर देखिये  
 की भारत में महाभारत कभी नहीं होता  
 यदि उसका सम्राट धृतराष्ट्र न होता जिसे  
 अपने सिंहासन के अलावा  
 कुछ भी दिखाई नहीं देता था  
 इतना ही नहीं उसकी रानी ने भी आँखों पर  
 पट्टी बाँध रखी थी ताकि उसे भी कुछ दिखाई न दे  
 अपने पुत्रों के मोह के अलावा  
 भारत में महाभारत कुछ अटपटा नहीं लगा आपको  
 और क्या ध्वनि निकलती है इस वाक्य से  
 सत्ता के आतंक, दंभ, हिंसा और  
 युद्ध के अलावा  
 जिस-जिस शब्द से जुड़ा यह 'महा' उपसर्ग  
 शब्द की सूरत बदल कर रख दी  
 उदाहरण देने से क्या लाभ  
 आप ही जोड़कर देख लें सीधे-सादे शब्दों  
 के आगे यह उपसर्ग  
 मैं किसी 'शब्द' और 'नाम' का अपमान नहीं कर रहा हूँ  
 और 'महाभारत' जैसे आदिग्रंथ का तो बिलकुल नहीं  
 वह न लिखा गया होता तो  
 युद्ध की विभीषिका और निरर्थकता का कैसे पता चलता  
 कैसे पता चलता की युद्ध में हार ही हार होती है  
 कोई जीतता नहीं

'राष्ट्र' ही सर्वोपरि है तो एक ही राष्ट्र के भीतर  
 कई राष्ट्रयाताओं की धारणा से आज भी  
 मुक्त नहीं हुए आप  
 व्यर्थ गयी हजारों वर्षों की यात्रा आपकी  
 बर्बर तंत्र से प्रजातंत्र तक की  
 तो फिर जाइए वापस अपने-अपने  
 राष्ट्रों में  
 लौट जाइए अंधेरी खाइयों-गुफाओं में  
 यही तो चाहते हैं आज भी  
 नए चेहरों वाले आपके पुराने विस्तारवादी  
 माई-बाप  
 कभी जो नेशन का सिद्धांत लेकर आये थे और बढ़ाते रहे  
 अपना साम्राज्य

इतने वर्षों की दासता से कुछ सबक सीखा नहीं आपने  
 धर्म के नाम परा बांटा गया  
 खुशी-खुशी बाँट गए  
 भाषाओं के नाम पर अलग-अलग किया गया  
 अलग-अलग हो लिए  
 अब अपनी-अपनी जातियों के नाम पर भी बना लीजिये  
 अपने-अपने, अलग-अलग राष्ट्र  
 और अब इस बार डूबे तो कोई किसी को  
 नहीं बचा पाएगा

मैं फिर कहता हूँ कि मैं किसी शब्द और किसी  
 नाम का अपमान नहीं कर रहा हूँ  
 केवल उस मानसिकता की तरफ संकेत कर रहा हूँ  
 जो अपनी कुलीनता के दंभ में अपने ही देश में  
 अपने ही वर्चस्व का  
 अलग राष्ट्र हो जाना चाहती है  
 और धीरे-धीरे सारे देश को  
 इकहरा राष्ट्र बनाना चाहती है  
 आज भी इक्कीसवीं सदी में  
 ज्ञान-विज्ञान सब एक तरफ रख कर ताक में  
 रक्त की शुद्धता, पवित्रता की दुहाई देकर  
 भोले-भाले लोगों को जिन गुफाओं में ले जाकर  
 जिंदा दफन कर देना चाहते हैं वे  
 इतिहास गवाह है उन गुफाओं से निकलने में  
 सदियाँ बीत जाती हैं

आप समझ ही गए होंगे बात महज शब्दों की नहीं, प्रवृत्तियों की है  
 और कठिनाई यही है की उनके बारे में  
 शब्दों को छोड़कर बात की नहीं जा सकती  
 भाषा में इस प्रवृत्ति को  
 'तद्भव' को 'तत्सम' में जबरदस्ती रूपांतरित  
 करने का शीर्षासन कह सकते हैं  
 सभी जानते हैं की यह अस्वाभाविक प्रक्रिया है  
 'फज़ल' ने किस सादगी से कहा था  
 'पहाड़ तक तो कोई भी नदी नहीं जाती'

---

यह मानसिकता देश की बहुरंगी संस्कृति को  
पहले राष्ट्र की संस्कृति कहकर इकहरा बनाती है  
फिर देश को एक तरफ फेंक  
सांस्कृतिक-राष्ट्रवाद का नारा लगाती है  
मैं किसकी कसम खाऊँ  
मुझे भाषा के किसी शब्द से चिढ़ नहीं है  
चिढ़ है तो उस मानसिकता से जो शब्दों को  
मनुष्य के विरुद्ध खड़ा कर देती है  
जो सिर्फ मनुष्य को दिए गए नामों से पहचानती है  
उनकी जातियों से पहचानती है,  
उनके रंगों से पहचानती है  
और उनकी भाषा में कभी दिए गये 'ईश्वर'  
के नाम के लिए उनके अलग-अलग शब्दों से  
पहचानती है

देश देशजों से बनता है  
उनकी बहुरंगी छटा देशों का इन्द्रधनुष बनती है  
जो सबको अपने-अपने आसमान में दिखाई देता है  
कौन होगा जिसका मन इन्द्रधनुष देखकर  
इन्द्रधनुष जैसा न हो जाए

मान लिया  
मान लिया कि अंग्रेजी के 'नेशन' शब्द के लिए हिंदी में  
फिर से पैदा हुआ 'राष्ट्र'  
तो 'नेशन' शब्द में कौन से सुर्खाब के पर लगे हैं  
पश्चिमी दुनिया की लगभग सभी भाषाओं में  
कितना प्यारा है 'कन्ट्री' शब्द अर्थात् 'देशज'  
कब और कैसे दबोच लिया  
'कन्ट्री' जैसे आत्मीय शब्द को 'नेशन' ने  
यह खोज का विषय होना चाहिए  
जरूर उसके पीछे कोई बर्बरता छिपी होगी

इस सबके बाद भी  
आपको अपना राष्ट्र मुबारक  
मुझे तो अपना देश चाहिए  
आपको इक्कीस तोपों की सलामी मुबारक  
मुझे आसमान में मेरा लहराता तिरंगा चाहिए  
बुरा लगा हो तो माफ करना  
मैं तो अपने लोकतंत्र में अपनी छोटी सी  
नागरिक इच्छा पूरी करना चाहता था  
कि इस बार छब्बीस जनवरी पर  
मैं देश के नाम सन्देश देना चाहता था।

(साभार)

---

# नामवर सिंह : हिंदी के नामवर

## यानी हिंदी के प्रकाश स्तंभ

■ मंगलेश डबराल

---



यह हिंदी के प्रतिमानों की विदाई का त्रासद समय है। सोलह महीनों के छोटे से अंतराल में कुंवर नारायण, केदारनाथ सिंह, विष्णु खरे, कृष्णा सोबती और अब नामवर सिंह के निधन से जो जगहें खाली हुई हैं वे हमेशा खाली ही रहेंगी।

इनमें से कई लोग नब्बे वर्ष के परिपक्व और कई उपलब्धियां देख चुके जीवन को पार कर चुके थे, लेकिन उनका न होना प्रकाश स्तंभों के बुझने की तरह है।

आधुनिक कविता की व्यावहारिक आलोचना की सबसे अधिक लोकप्रिय किताब 'कविता के नए प्रतिमान' लिखने वाले डॉ. नामवर सिंह कई दशकों तक खुद हिंदी साहित्य के प्रतिमान बने रहे। वे हिंदी के उन चंद कृति व्यक्तित्वों में थे जिनके पास न सिर्फ हिंदी, बल्कि भारतीय भाषाओं के साहित्य की एक विहंगम और समग्र दृष्टि थी और इसीलिए दूसरी भाषाओं में हिंदी के जिस व्यक्ति को सबसे पहले याद किया जाता रहा, वे नामवर सिंह ही हैं।

एक तरह से वे हिंदी के ब्रांड एम्बेसेडर थे। प्रगतिशील-प्रतिबद्ध साहित्य का एजेंडा तय करने का काम हो या 'आलोचना' के संपादक के तौर पर साहित्यिक वैचारिकता का पक्ष या जवाहर लाल नेहरू विश्वविद्यालय (जेएनयू) में प्रोफेसरी, सबमें उनका कोई सानी नहीं था।

उनका साहित्य पढ़ाने का तरीका शुष्क और किताबी नहीं, बल्कि इतना सम्प्रेषणीय और प्रभावशाली होता था कि उनके ही नहीं, दूसरी कक्षाओं के छात्र और प्राध्यापक भी उन्हें सुनने आ जाते थे। जेएनयू के हिंदी विभाग की धाक काफी समय तक बनी रहने का श्रेय नामवरजी को ही जाता है जिन्होंने विभाग की बुनियाद

भी रखी थी।

### छपना यानी 'साहित्य में स्वीकृति की मुहर'

एक लम्बे समय तक नामवर सिंह को अध्ययन और अध्यवसाय का पर्याय माना जाता रहा। जेएनयू से पहले उन्हें बहुत से लोगों ने दिल्ली के तिमारपुर इलाके में एक कमरे के घर में देखा होगा जहां दीवार पर लातिन अमेरिकी छापामार क्रांतिकारी चे ग्वारा की काली-सफेद तस्वीर लटकती थी और वे एक तख्त पर किताबों से घिरे हुए किसी एकांत साधक की तरह रहते थे।

कई लोग यह मानते हैं कि उस दौर का गहन अध्ययन जीवन भर उनके काम आता रहा। उनके संपादन में 'आलोचना' का बहुत सम्मान था और उसमें किसी की रचना का प्रकाशित होने का अर्थ था : साहित्य में स्वीकृति की मुहर।

उन दिनों जब इन पंक्तियों का लेखक दिल्ली आया तो साहित्य अकादेमी के तत्कालीन उपसचिव और नयी कविता के एक प्रमुख कवि भारत भूषण अग्रवाल ने कहा, "अरे, आप अपनी कवितायें मुझे दीजिये। मैं उन्हें 'आलोचना' में छपवाऊंगा!" दिलचस्प यह था कि तब तक इस लेखक की कवितायें 'आलोचना' के नए अंक में प्रकाशित हो गयी थीं।

जिस तरह निराला अपना जन्मदिन अपनी प्रिय ऋतु वसंत की पंचमी को मनाते थे वैसे ही नामवर सिंह का जन्मदिन पहली मई को मनाया जाता रहा। यह मजदूर दिवस की तारीख है और संयोग से स्कूल में नामांकन के समय उनके जन्म की यही तारीख लिखवाई गयी थी।

बाद में वे वास्तविक तारीख 26 जुलाई को जन्मदिन मनाने लगे। युवावस्था में उन्होंने काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में अध्यापन किया और कम्युनिस्ट पार्टी

के उम्मीदवार के तौर पर लोकसभा चुनाव के मैदान में उतरे और हार गए, जिसके नतीजे में उन्हें विश्वविद्यालय की नौकरी से हटना पड़ा। फिर दिल्ली आकर उन्होंने कुछ समय पार्टी के मुखपत्र 'जनयुग' का संपादन किया।

सागर और वहां से इस्तीफा देने को विवश किये जाने के बाद जोधपुर विश्वविद्यालय में हिंदी विभाग का प्रमुख बनना नामवर सिंह के जीवन का एक अहम मोड़ था।

पाठ्यक्रम में प्रगतिशील साहित्य को शामिल करने आदि कुछ मुद्दों के कारण उन्हें वहां से भी मुक्त होना पड़ा। फिर उन्हें जेएनयू में हिंदी विभाग की बुनियाद रखने का जिम्मा मिला और वे वर्षों तक उसके अध्यक्ष रहे। उसके बाद की कहानी उनकी दुनियावी कामयाबी की मिसाल है।

### कविता के नए प्रतिमान

'कविता के नए प्रतिमान' का प्रकाशन (1968) किसी परिघटना से कम नहीं था जिसने समकालीन हिंदी कविता की आलोचना में एक प्रस्थापना-परिवर्तन किया। उससे पहले तक आधुनिक, छायावादोत्तर कविता को प्रगतिशील नजरिए से पढ़ने-परखने की व्यवस्थित दृष्टि का अभाव था और अकादमिक क्षेत्र में डॉ. नगेन्द्र की रस-सिद्धांतवादी मान्यताओं का बोलबाला था।

ये मान्यताएं नयी काव्य संवेदना को देख पाने में असमर्थ थीं इसलिए उसे खारिज करती थीं। 'कविता के नए प्रतिमान' ने नगेन्द्र की रूमानी आलोचना का ज़बरदस्त खंडन किया और आधुनिक काव्य भूमियों को पड़ताल के लिए पुराने औजारों को निरर्थक मानते हुए 'नए' प्रतिमानों की ज़रूरत रेखांकित की।

इस पद का जिम्मा हालांकि सबसे पहले कवि-आलोचक विजयदेव नारायण साही ने लक्ष्मीकांत वर्मा की पुस्तक 'नयी कविता के प्रतिमान' के सन्दर्भ में करते हुए कहा था कि अब 'नयी' कविता के प्रतिमानों का नहीं, बल्कि कविता के 'नए' प्रतिमानों की ज़रूरत है। लेकिन नामवर सिंह ने साही के भाववाद से हटकर उन्हें एक सुव्यवस्थित शक्ति देकर समाज-सापेक्ष पड़ताल का हिस्सा बनाया।

साही परिमल ग्रुप के पुरोधा थे जिसके प्रगतिशील लेखकों से गहरे मतभेद थे। एक तरह से नामवर सिंह ने परिमलीय नयेपन को प्रगतिशील अंतर्वस्तु देने का काम किया।

वह विश्व राजनीति में पूंजीवादी और समाजवादी ब्लॉक के बीच शीतयुद्ध का दौर था जिसकी छाया से साहित्य भी अछूता नहीं रहा। हिंदी के शीतयुद्ध में एक तरफ परिमलीय लेखक और हीरानन्द सच्चिदानंद वात्स्यायन अज्ञेय थे तो दूसरी तरफ प्रगतिशील साहित्य का मोर्चा था, जिसकी बागडोर तमाम आपसी मतभेदों के बावजूद डॉ. रामविलास शर्मा और डॉ. नामवर सिंह के हाथों में रही।

'कविता के नए प्रतिमान' इसी दौर की कृति हैं जिसने डॉ. नगेन्द्र के साथ-साथ अज्ञेय के साहित्यिक आभामंडल को ढहाने का काम किया। नामवर जी ने अज्ञेय के नव-छायावाद के बरक्स रघुवीर सहाय की कविता को, और बाद में गजानन माधव मुक्तिबोध को भी केंद्रीयता देते हुए नया विमर्श शुरू किया।

रघुवीर सहाय हालांकि अज्ञेय की पाठशाला से ही निकले थे, लेकिन उनके सरोकार कहीं ज्यादा सामाजिक और लोकतांत्रिक नागरिकता से जुड़े थे इसलिए नामवर जी ने कविता की सामाजिकता और लोकतंत्र पर जिस बहस की शुरुआत की वह लम्बे समय तक सार्थक बनी रही।

पत्रकारिता का अनुभव होने के कारण उनकी भाषा अकादमिक जटिलता से मुक्त और ज्यादा सम्प्रेषणीय थी। यह किताब आलोचना को एक रणनीति को सामने रखती थी और बाद में खुद नामवर जी उसे 'पोलिमिकल' यानी दाँव-पेच और उखाड़-पछाड़ से भरी हुई मानने लगे। वर्षों बाद उन्होंने जैसे भूल-सुधार करते हुए अज्ञेय की कविता पर पुनर्विचार किया और उनके समग्र अवदान को भी रेखांकित किया।

### नयी कहानी में 'नयी' क्या ?

इससे पहले भी नामवर जी की एक किताब 'कहानी : नयी कहानी' (1964) चर्चित रही जिसमें उन्होंने यह जांचने की कोशिश की कि 'नयी कहानी' आन्दोलन में नया क्या है।

उन्होंने उसके प्रमुख कथाकारों मोहन राकेश, राजेंद्र यादव और कमलेश्वर की त्रयी की कहानियों के बरक्स निर्मल वर्मा की कहानी 'परिदे' को पहली 'नयी' कहानी के रूप में मान्यता दी।

ज्यादातर आलोचकों की राय में मोहन राकेश की 'मलबे का मालिक' पहली नयी कहानी थी, लेकिन नामवर जी ने ऐसी कहानियों को 'अधूरा अनुभव' कह कर खारिज किया। दरअसल वाद-विवाद उन्हें शुरू से ही प्रिय था हालांकि उनकी एक और किताब 'वाद विवाद संवाद' बहुत बाद में (1989) में आयी।

नामवर सिंह मानते थे कि "मेरा वास्तविक काम 'दूसरी परंपरा की खोज' में है", जिसका प्रकाशन 1982 में हुआ।

आचार्य रामचंद्र शुक्ल की 'लोकमंगलवादी' सैद्धांतिकी से अलग आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी की 'लोकोन्मुखी क्रांतिकारी' संस्कृति-समीक्षा की राह पर चलती इस किताब से उन्होंने जैसे अपने गुरु को श्रद्धांजलि दी।

उन्होंने तुलसीदास की बजाय सूरदास और कबीर की प्रासंगिकता को रेखांकित किया। उसकी भूमिका में नामवर सिंह लिखते हैं : "यह प्रयास परंपरा की खोज का ही है। सम्प्रदाय-निर्माण का नहीं। पण्डितजी स्वयं सम्प्रदाय-निर्माण के विरुद्ध थे। यदि 'सम्प्रदाय का मूल अर्थ है गुरु-परम्परा से प्राप्त आचार-विचारों का

संरक्षण', तो पण्डितजी के विचारों के अविच्छिन्न संरक्षण के लिए मेरी क्या, किसी की भी आवश्यकता नहीं है।'

### हिंदी भाषा को हमेशा रखा आगे

नामवर सिंह व्यावहारिक आलोचना ही नहीं, कुछ व्यावहारिक विवादों के लिए भी जाने गए। एक लम्बे समय तक हिंदी और उर्दू की प्रगतिशील या तरक्कीपसंद धाराओं में एकजुटता और अंतर्क्रियाएं बनी रहीं। कम्युनिस्ट पार्टी के सांस्कृतिक मंचों प्रगतिशील लेखक संघ, इंडियन पीपुल्स थिएटरिकल एसोसिएशन (इप्टा) आदि की सांस्कृतिक गतिविधियों में हिंदी-उर्दू लेखकों-रंगकर्मियों का ऐतिहासिक योगदान था जिसकी धमक हिंदी सिनेमा तक में सुनाई दी।

बाद में जब प्रगतिशील लेखक संघ में हिंदी-उर्दू के मसले पर मतभेद शुरू हुए और उर्दू लेखकों ने उपेक्षित किये जाने और उर्दू को उसका 'वाजिब हक' न मिलने की बहस शुरू की तो नामवर जी ने एक लेख 'बासी भात में खुदा का साझा' के जरिये हिंदी का पक्ष लिया।

नतीजतन, उर्दू में नामवर के समकक्ष कहे जाने वाले और उर्दू के साथ जवाहर लाल विश्वविद्यालय के भारतीय भाषा केंद्र में प्रोफेसर डॉ. मोहम्मद हसन से उनकी वैचारिक-व्यक्तिगत दूरियां बढ़ गयीं। हिंदी और उर्दू, दोनों के साहित्य पर आलोचकों का वर्चस्व रहा है और यह हमारे साहित्यों को एक औपनिवेशिक देन है, और उसके दिग्गजों के आपसी मतभेदों ने तरक्कीपसंद अदब में कई भीतरी दरारें पैदा कीं।

### 'वाचिक' परम्परा

नामवर सिंह आलोचना में एक और 'परम्परा' के लिए भी याद किये जाते हैं और वह है—'वाचिक' परम्परा। द्विवेदी जी बहुत कुछ लिखने के अलावा उस 'वाचिक' धारा के भी समर्थक थे जिसकी लीक कबीर, नानक, दादू आदि की यायावरी और प्रवचनों से बनी थी। कहानी उनकी निगाह में 'गल्प' थी, गप्प का तत्सम रूप।

नामवर जी ने भी जीवन के उत्तरार्ध में 'वाचिक' शैली में ही काम किया जिसका कुछ उपहास भी हुआ। 'दूसरी परंपरा की खोज' के बाद उनकी करीब एक दर्जन किताबें आयीं जिनमें 'आलोचक के मुख से', 'कहना न होगा', 'कविता की ज़मीन और ज़मीन की कविता', 'बात-बात में बात' आदि प्रमुख हैं, लेकिन वे ज्यादातर 'लिखी हुई' नहीं, 'बोली हुई' हैं।

लेकिन यह देखकर आश्चर्य होता है कि करीब तीन दशक तक वे कभी-कभार 'आलोचना' के संपादकीयों को छोड़कर बिना कुछ लिखे, सिर्फ इंटरव्यू, भाषण और व्याख्यान के जरिये प्रासंगिक बने रहे। इसकी एक वजह यह भी थी कि उनका गंभीर लेखन जिस तरह बोझिल विद्वता से मुक्त था, वैसे ही उनकी वाचिकता भी सरस थी हालांकि उसमें वह प्रामाणिकता कम थी जो उनके लेखन में पायी जाती है।

### उदाहरण की तरह देखा गया नामवर का जीवन

नामवर सिंह के अंतर्विरोधों की चर्चा भी हिंदी में एक प्रिय विषय रहा है। वे 'महाबली' माने गए और उनके 'पतन' पर भी बहुत लिखा गया। नामवर जी वाम-प्रगतिशील साहित्य के एक प्रमुख रणनीतिकार आलोचक थे और अपने जीवन के सबसे जीवंत दौर में हिंदी विमर्शों पर उनका गहरा प्रभाव रहा।

कविता की उनकी पहचान भी अचूक मानी गयी और ज्यादातर कवि अपनी कविता पर उनकी राय जानने के लिए लालायित रहते थे। हरिवंश राय बच्चन के एक गीत की पंक्ति को कुछ बदल कर कहा जाए तो उनका रोमांच ऐसा था कि 'तुम छू दो, मेरा गान अमर हो जाए'।

यह भी उर्दू की खूबी थी कि वे अपने समझौतों को एक वैचारिक औचित्य दे सकते थे। उनसे प्रभावित कई लोगों को मलाल रहा कि वे खुद एक सत्ताधारी, ताकतवर प्रतिष्ठान बन गए और आजीवन हिन्दुत्ववादी संघ परिवार का तीखा विरोध करने के बावजूद उसके द्वारा संचालित संस्थाओं से दूरी नहीं रख पाए। ऐसे विचलनों के कारण प्रगतिशील लेखक संघ को उन्हें हटाने को विवश होना पड़ा।

पांच दशक से भी ज्यादा समय तक नामवर सिंह हिंदी साहित्य की प्रस्थापनाओं, बहसों और विवादों के केंद्र में रहे। चर्चा 'दूसरा नामवर कौन?' के मुद्दे पर भी हुई और कई आलोचकों-प्राध्यापकों ने नामवर जैसा बनने की कोशिश की, लेकिन उनकी तरह का दर्जा किसी को हासिल नहीं हुआ। खुद नामवर कहते थे कि 'हर साहित्यिक दौर को अपना आलोचक पैदा करना होता है। मैं जिस पीढ़ी का आलोचक हूँ, उसके बाद की पीढ़ी का आलोचक नहीं हो सकता।'

जिन आलोचकों ने उनसे अलग राह पर चलने, उनकी परंपरा से हटकर चलने की कोशिश की और आलोचना को व्यावहारिकता से कुछ हटकर गहरे सामाजिक सरोकारों से जोड़ने की कोशिश की, वे कुछ हद तक कामयाब रहे।

नामवर जी के व्यक्तित्व और काम पर दर्जन भर पुस्तकें और कई पत्रिकाओं के विशेष अंक प्रकाशित हुए : 'नामवर के विमर्श', 'आलोचना के रचना पुरुष', 'नामवर की धरती', 'जेएनयू में नामवर सिंह', 'आलोचक नामवर सिंह', 'पहल' और 'बहुवचन के विशेषांक' आदि इसके कुछ उदाहरण हैं।

किसी आलोचक को इतनी प्रशस्तिपूर्ण किताबें कम ही नसीब हो पाती हैं। हिंदी में आलोचना की फिलहाल जो दुर्दशा है, उसमें 'नामवर के बाद कौन?' की बहस भी संभव नहीं लगती।

हाँ, नामवर के होने का अर्थ पर काफी विचार किया गया और अब उनके विदा लेने के बाद शायद नामवर के न होने का अर्थ पर उतने ही गंभीर विचार की दरकार होगी।

साभार : बीबीसी.कॉम/हिंदी

## ४ • समरथ

जनवरी-मार्च 2019



---

# पांच तथ्य जो इस धारणा को चुनौती देते हैं कि औरंगजेब हिंदुओं के लिए सबसे बुरा शासक था

## ■ शोएब दानियाल

---

केन्द्र में भाजपा की अगुवाई वाली सरकार बनने के बाद से इतिहास की राजनीति में दखलंदाजी अचानक बढ़ने लगी है। करीब दो साल पहले नई दिल्ली नगरपालिका परिषद ने औरंगजेब रोड का नाम बदलकर डॉ. एपीजे अब्दुल कलाम रोड कर दिया। भाजपा और आम आदमी पार्टी ने इस फैसले का स्वागत किया तो कांग्रेस ने इस पर सोची-समझी चुप्पी धारण कर ली। इस फैसले ने लंबे समय से महाराष्ट्र के औरंगाबाद का नाम बदलने की मांग कर रही शिवसेना का उत्साह भी बढ़ा दिया। औरंगाबाद दक्षिण भारत में मुगलों की राजधानी रही है जिसे अहमदनगर सल्तनत के पेशवा मलिक अंबर ने स्थापित किया था। शिवसेना की मांग थी कि औरंगाबाद का नाम शिवाजी के बेटे संभाजी के नाम पर संभाजी नगर कर दिया जाए।

ज्यादातर लोगों को लगता है कि इतिहास अतीत की घटनाओं का क्रमिक अध्ययन है; तथ्यों, घटनाओं और संख्याओं का रूखा-सूखा लेखा-जोखा। लेकिन तथ्यों, घटनाओं और संख्याओं का महत्व इतिहास लेखन में कच्चे माल की तरह होता है। महत्वपूर्ण यह है कि एक इतिहासकार इन जानकारियों की व्याख्या कैसे करता है। ठीक वैसे ही जैसे किसी सब्जी को पांच रसोइये 10 तरह से पका सकते हैं।

इसका एक उदाहरण 1740 के दशक में बंगाल पर हुए मराठा आक्रमण से समझा जा सकता है जिसकी इतिहास के ज्यादातर सरकारी संस्करणों ने उपेक्षा की है। ज्यादातर भारतीय इतिहासकारों के लिए मराठा 'राष्ट्रीय' शक्ति थे। लेकिन वे इस तथ्य को अनदेखा कर देते हैं कि किसी भी मध्ययुगीन सेना की

तरह मराठा फौज के पास भी राष्ट्रवाद जैसी कोई अवधारणा नहीं थी। एक बड़ी हद तक उसकी दिलचस्पी बंगाल में लूटमार करने में थी।।

कहने का यह मतलब नहीं है कि मराठाओं के इतिहास में अगर इस आक्रमण को शामिल नहीं किया तो वह इतिहास गलत होगा। अपनी कहानी मजबूती से कहने कोशिश में किसी भी इतिहासकार के लिए यह स्वाभाविक ही है कि वह अपने वर्णन में कुछ घटनाएं शामिल करे और कुछ को छोड़ दे। यह उदाहरण बस यही बताने के लिए है कि तथ्यों और घटनाओं को बताने का नजरिया किस तरह धारणाएं बदल देता है और मराठाओं को राष्ट्रवादी शक्ति बना देता है।

जहां तक औरंगजेब की बात है तो उसके बारे में ज्यादातर प्रचलित धारणाएं उसे इतना दुर्दांत और दमनकारी शासक बताती हैं कि उसके नाम वाली एक सड़क भी कई लोगों को स्वीकार्य नहीं। हालांकि सिर्फ एक लेख से औरंगजेब के बारे में इस धारणा को सच्चा या झूठा साबित नहीं किया जा सकता। फिर भी ऐसे पांच तथ्य जो इस धारणा के खिलाफ जाते हैं।

### 1. औरंगजेब ने जितने मंदिर तुड़वाए, उससे कहीं ज्यादा बनवाए थे

अतीत में मुगल शासकों द्वारा हिंदू मंदिर तोड़े जाने का मुद्दा भारत में 1980-90 के दशक में गर्म हुआ। भारतीय जनता पार्टी की अगुवाई में अयोध्या में राम मंदिर बनाने के लिए एक आंदोलन शुरू हुआ जिसकी परिणति बाबरी मस्जिद ढहाए जाने के रूप में हुई। इस आंदोलन की बुनियाद में यह धारणा थी कि

संबंधित स्थल पर भगवान राम का जन्म हुआ था।

इसे विडंबना ही कहा जाएगा कि जिस कालखंड यानी मुगलकाल में मंदिरों को तोड़े जाने की बात इतनी ज्यादा प्रचलन में है, उसमें हिंदुओं द्वारा कहीं इस बात का विशेष जिक्र नहीं मिलता। तर्क दिया जा सकता है कि उस दौर में ऐसा करना खतरे से खाली नहीं रहा होगा, लेकिन 18वीं शताब्दी में जब सल्तनत खत्म हो गई तब भी इस बात का कहीं जिक्र नहीं मिलता। विश्वप्रसिद्ध इतिहासकार रिचर्ड ईटन के मुताबिक मुगलकाल में मंदिरों को ढहाना दुर्लभ घटना हुआ करती थी और जब भी ऐसा हुआ तो उसके कारण राजनीतिक रहे। ईटन के मुताबिक वही मंदिर तोड़े गए जिनमें विद्रोहियों को शरण मिलती थी या जिनकी मदद से बादशाह के खिलाफ साजिश रची जाती थी। उस समय मंदिर तोड़ने का कोई धार्मिक उद्देश्य नहीं था।

इस मामले में कुख्यात कहा जाने वाला औरंगजेब भी सल्तनत के इसी नियम पर चला। उसके शासनकाल में मंदिर ढहाने के उदाहरण बहुत ही दुर्लभ हैं (ईटन इनकी संख्या 15 बताते हैं) और जो हैं उनकी जड़ में राजनीतिक कारण ही रहे हैं। उदाहरण के लिए औरंगजेब ने दक्षिण भारत में कभी-भी मंदिरों को निशाना नहीं बनाया जबकि उसके शासनकाल में ज्यादातर सेना यहीं तैनात थी। उत्तर भारत में उसने जरूर कुछ मंदिरों पर हमले किए जैसे मथुरा का केशव राय मंदिर लेकिन इसका कारण धार्मिक नहीं था। मथुरा के जाटों ने सल्तनत के खिलाफ विद्रोह किया था इसलिए यह हमला किया गया।

ठीक इसके उलट कारणों से औरंगजेब ने मंदिरों को संरक्षण भी दिया। यह उसकी उन हिंदुओं को भेंट थी जो बादशाह के वफादार थे। किंग्स कॉलेज, लंदन की इतिहासकार कैथरीन बटलर तो यहां तक कहती हैं कि औरंगजेब ने जितने मंदिर तोड़े, उससे ज्यादा बनवाए थे। कैथरीन फ्रैंक, एम. अथर अली और जलालुद्दीन जैसे विद्वान इस तरफ भी इशारा करते हैं कि औरंगजेब ने कई हिंदू मंदिरों को अनुदान दिया था जिनमें बनारस का जंगम बाड़ी मठ, चित्रकूट का बालाजी मंदिर, इलाहाबाद का सोमेश्वर नाथ महादेव मंदिर और गुवाहाटी का उमानंद मंदिर सबसे जाने-पहचाने नाम हैं।

इसी से जुड़ी एक दिलचस्प बात है कि मंदिरों की तोड़फोड़ भारतीय इतिहास में सिर्फ मुगलकाल तक सीमित नहीं है। 1791 में मराठा सेना ने श्रृंगेरी मठ पर हमला कर शंकराचार्य मंदिर में तोड़फोड़ की थी क्योंकि इसे उसके दुश्मन टीपू सुल्तान का संरक्षण हासिल था। बाद में टीपू सुल्तान ने इस मंदिर का जीर्णोद्धार करवाया।

## 2. औरंगजेब के शासनकाल में संगीत भी फला-फूला

औरंगजेब को कट्टरपंथी साबित करने की कोशिश में एक

बड़ा तर्क यह भी दिया जाता है कि उसने संगीत पर प्रतिबंध लगा दिया था। लेकिन यह बात भी सही नहीं है। कैथरीन बताती हैं कि सल्तनत में तो क्या संगीत पर उसके दरबार में भी प्रतिबंध नहीं था। बादशाह ने जिस दिन राजगद्दी संभाली थी, हर साल उस दिन उत्सव में खूब नाच-गाना होता था। कुछ ध्रुपदों की रचना में औरंगजेब नाम शामिल है जो बताता है कि उसके शासनकाल में संगीत को संरक्षण हासिल था। कुछ ऐतिहासिक तथ्य इस बात की तरफ भी इशारा करते हैं कि वह खुद संगीत का अच्छा जानकार था। मिरात-ए-आलम में बख्तावर खान ने लिखा है कि बादशाह को संगीत विशारदों जैसा ज्ञान था। मुगल विद्वान फकीरुल्लाह ने राग दर्पण नाम के दस्तावेज में औरंगजेब के पसंदीदा गायकों और वादकों के नाम दर्ज किए हैं। औरंगजेब को अपने बेटों में आजम शाह बहुत प्रिय था और इतिहास बताता है कि शाह अपने पिता के जीवनकाल में ही निपुण संगीतकार बन चुका था।

औरंगजेब के शासनकाल में संगीत के फलने-फूलने की बात करते हुए कैथरीन लिखती हैं, '500 साल के पूरे मुगलकाल की तुलना में औरंगजेब के समय फारसी में संगीत पर सबसे ज्यादा टीका लिखी गई।' हालांकि यह बात सही है कि अपने जीवन के अंतिम समय में औरंगजेब ज्यादा धार्मिक हो गया था और उसने गीत-संगीत से दूरी बना ली थी। लेकिन ऊपर हमने जिन बातों का जिक्र किया है उसे देखते हुए यह माना जा सकता है कि उसने कभी अपनी निजी इच्छा को सल्तनत की आधिकारिक नीति नहीं बनाया।

## 3. औरंगजेब के प्रशासन में दूसरे मुगल बादशाह से ज्यादा हिंदू नियुक्त थे और शिवाजी भी इनमें शामिल थे

मुगल इतिहास के बारे में यह एक सर्वमान्य तथ्य है कि दूसरे बादशाहों की तुलना में औरंगजेब के शासनकाल में सबसे ज्यादा हिंदू प्रशासन का हिस्सा थे। ऐतिहासिक तथ्य बताते हैं कि औरंगजेब के पिता शाहजहां के शासनकाल में सेना के विभिन्न पदों, दरबार के दूसरे अहम पदों और विभिन्न भौगोलिक प्रशासनिक इकाइयों में हिंदुओं की तादाद 24 फीसदी थी जो औरंगजेब के समय में 33 फीसदी तक हो गई थी। एम. अथर अली के शब्दों में कहें तो यह तथ्य इस धारणा के विरोध में सबसे तगड़ा सबूत है कि बादशाह हिंदू मनसबदारों के साथ पक्षपात करता था।

औरंगजेब की सेना में वरिष्ठ पदों पर बड़ी संख्या में राजपूत नियुक्त थे। मराठा और सिखों के खिलाफ औरंगजेब के हमले को धार्मिक चश्मे से देखा जाता है लेकिन यह निष्कर्ष निकालते वक्त इस बात की उपेक्षा कर दी जाती है कि तब युद्ध क्षेत्र में मुगल सेना की कमान अक्सर राजपूत सेनापति के हाथ में होती थी। इतिहासकार यदुनाथ सरकार लिखते हैं कि एक समय खुद शिवाजी भी औरंगजेब

की सेना में मनसबदार थे। कहा जाता है कि वे दक्षिण भारत में मुगल सल्तनत के प्रमुख बनाए जाने वाले थे लेकिन उनकी सैन्य कुशलता को भांपने में नाकाम रहे औरंगजेब ने इस नियुक्ति को मंजूरी नहीं दी।

#### 4. औरंगजेब की मातृभाषा हिंदी थी

औरंगजेब ही नहीं सभी मध्यकालीन भारत के तमाम मुस्लिम बादशाहों के बारे में एक बात यह भी कही जाती है कि उनमें से कोई भारतीय नहीं था। वैसे एक स्तर पर यह बचकाना और बेमतलब का तर्क है क्योंकि 17वीं शताब्दी के भारत में (और दुनिया में कहीं भी) राष्ट्र जैसी अवधारणा का तो कहीं अस्तित्व ही नहीं था।

हालांकि इसके बाद भी यह बात कम-से-कम औरंगजेब के मामले में लागू नहीं होती। यह मुगल बादशाह पक्का उच्चवर्गीय हिंदुस्तानी था। इसका सीधा तर्क यही है कि उसका जन्म गुजरात के दाहोद में हुआ था और उसका पालन पोषण उच्चवर्गीय हिंदुस्तानी परिवारों के बच्चों की तरह ही हुआ। पूरे मुगलकाल में ब्रज भाषा और उसके साहित्य को हमेशा संरक्षण मिला था और यह परंपरा औरंगजेब के शासन में भी जारी रही। कोलंबिया यूनिवर्सिटी से जुड़ी इतिहासकार एलिसन बुश बताती हैं कि औरंगजेब के दरबार में ब्रज को प्रोत्साहन देने वाला माहौल था। बादशाह के बेटे आजम शाह की ब्रज कविता में खासी दिलचस्पी थी। ब्रज साहित्य के कुछ बड़े नामों जैसे महाकवि देव को उसने संरक्षण दिया था। इसी भाषा के एक और बड़े कवि वृंद तो औरंगजेब के प्रशासन में भी नियुक्त थे।

मुगलकाल में दरबार की आधिकारिक लेखन भाषा फारसी थी लेकिन औरंगजेब का शासन आने से पहले ही बादशाह से लेकर दरबारियों तक के बीच प्रचलित भाषा हिंदी-उर्दू हो चुकी थी। इसे औरंगजेब के उस पत्र से भी समझा जा सकता है जो उसने अपने 47 वर्षीय बेटे आजम शाह को लिखा था। बादशाह ने अपने बेटे को एक किला भेंट किया था और इस मौके पर नगाड़े बजवाने का आदेश दिया। आजम शाह को लिखे पत्र में औरंगजेब ने लिखा है कि जब वह बच्चा था तो उसे नगाड़ों की आवाज खूब पसंद थी और वह अक्सर कहता था, 'बाबाजी ढन-ढन!' इस उदाहरण से यह बात कही जा सकती है कि औरंगजेब का बेटा तत्कालीन प्रचलित हिंदी में ही अपने पिता से बातचीत करता था।

#### 5. औरंगजेब द्वारा लगाया गया जजिया कर उस समय के हिसाब से था

औरंगजेब के शासनकाल का यह सबसे विवादित मुद्दा है लेकिन इसे तत्कालीन राज व्यवस्था के हिसाब से देखें तो इसमें कुछ भी असामान्य नहीं था।

अकबर ने जजिया कर को समाप्त कर दिया था, लेकिन

औरंगजेब के समय यह दोबारा लागू किया गया। जजिया सामान्य करों से अलग था जो गैर-मुस्लिमों को चुकाना पड़ता था। इसके तीन स्तर थे और इसका निर्धारण संबंधित व्यक्ति की आमदनी से होता था। इस कर के कुछ अपवाद भी थे। गरीबों, बेरोजगारों और शारीरिक रूप से अशक्त लोग इसके दायरे में नहीं आते थे। इनके अलावा हिंदुओं की वर्ण व्यवस्था में सबसे ऊपर आने वाले ब्राह्मण और सरकारी अधिकारी भी इससे बाहर थे। मुसलमानों के ऊपर लगने वाला ऐसा ही धार्मिक कर जकात था जिसे औरंगजेब ने खत्म कर दिया था।

आधुनिक मूल्यों के मानदंडों पर जजिया निश्चितरूप से एक पक्षपाती कर व्यवस्था थी। आधुनिक राष्ट्र, धर्म और जाति के आधार पर इस तरह का भेद नहीं कर सकते। इसीलिए जब हम 17वीं शताब्दी की व्यवस्था को आधुनिक राष्ट्रों के पैमाने पर इसे देखते हैं तो यह बहुत अराजक व्यवस्था लग सकती है। लेकिन औरंगजेब के समय ऐसा नहीं था। उस दौर में इसके दूसरे उदाहरण भी मिलते हैं। जैसे मराठों ने दक्षिण के एक बड़े हिस्से से मुगलों को बेदखल कर दिया था। उनकी कर व्यवस्था भी तकरीबन इसी स्तर की पक्षपाती थी। वे मुसलमानों से जकात वसूलते थे और हिंदू आबादी इस तरह की किसी भी कर व्यवस्था से बाहर थी।

उस दौर में भारतीय समाज हिंदू-मुसलिम ध्रुवों में नहीं बंटा था बल्कि उसमें जाति व्यवस्था केंद्रीय भूमिका में थी। यदि हम आज के मानकों के हिसाब से देखें तो उस दौर में जाति व्यवस्था कहीं ज्यादा दमनकारी थी। इसका सबसे सटीक उदाहरण पेशवा राज के दौरान महाराष्ट्र में देखने को मिलता है। यहां तब महार दलित जाति के लोगों को अपने पीछे एक झाड़ू बांधकर चलना पड़ता था ताकि जब वे चलें तो उनके कदमों से अपवित्र भूमि का उसी समय शुद्धिकरण भी होता चले। नियम यह भी था कि जब वे बाहर निकलें तो गले में एक कटोरा बांधकर रखें ताकि उनके मुंह से निकला थूक जमीन पर न गिरे। वे कोई भी हथियार नहीं रख सकते थे और उनकी शिक्षा पर भी प्रतिबंध था। महारों के लिए इन नियमों का पालन न करने की दशा में मौत की सजा का प्रावधान था।

इसमें कोई दोराय नहीं है कि अतीत की दमनकारी व्यवस्थाओं का हमारा मूल्यांकन इतिहास के तटस्थ अध्ययन (यदि ऐसा कुछ संभव है तो) पर आधारित नहीं है बल्कि यह ज्यादातर हमारे आधुनिक पूर्वाग्रहों और राजनीति पर निर्भर करता है। इसीलिए औरंगजेब के जजिया कर की तो बार-बार चर्चा होती है लेकिन मराठों के जकात और जातिगत दमन को कालीन के नीचे दबा दिया जाता है।

साभार : सत्याग्रह

---

# ज्योतिबा और सावित्रीबाई फुले का संघर्ष भारतीय समाज के समावेशी होने की भी कहानी है

■ अव्यक्त

---

यह 1826 की बात है। उस साल महाराष्ट्र के एक ईसाई मिशनरी समूह ने अपने अमेरिकी बोर्ड से अनुरोध किया कि वे किसी अविवाहित और अकेली अमेरिकी महिला को बॉम्बे भेजें, ताकि वहां लड़कियों के लिए एक स्कूल चलाया जा सके। थोड़ी हिचक और ना-नुकूर के बाद मैसाचुसेट्स के बॉस्टन शहर से सिंथिया फैरार नाम की एक 31 वर्षीय महिला को भारत भेजा गया। 29 दिसंबर, 1827 को वे बॉम्बे पहुंचीं। विरोधों के बावजूद 1829 तक उनके स्कूल में करीब 400 भारतीय लड़कियां पढ़ रही थीं।

भारत में अगर लड़कियों के लिए औपचारिक शिक्षा व्यवस्था के इतिहास की बात करें तो 1830 के दौरान भी पुणे के शनिवार-वाड़े में सात-आठ लड़कियों के लिए गुप्त ढंग से एक स्कूल चलाया जाता था। लेकिन ये सभी लड़कियां कथित सवर्ण समुदाय की ही थीं। वहीं 1847 में बंगाल में बारासात (आज का 24 परगना) के दो बंधु नबीनकृष्ण मित्रा और कालीकृष्ण मित्रा ने भारत में लड़कियों के लिए पहला प्राइवेट स्कूल खोला था। कालीकृष्ण मित्रा एक प्रसिद्ध डॉक्टर थे। उन्होंने एक साहसी व्यक्ति प्यारी चरण सरकार के नेतृत्व में यह स्कूल खोला। शुरू में केवल दो लड़कियां आईं। इनमें से एक स्वयं नबीनकृष्ण मित्रा की बेटी कुन्तीबाला थी। हालांकि बहुत बाद में यह 'कालीकृष्ण गर्ल्स हाई स्कूल' के रूप में बहुत आगे गया। प्यारी चरण सरकार को 'आर्नोल्ड ऑफ ईस्ट' कहा गया। यह उपाधि उन्हें महान ब्रिटिश शिक्षाविद् और रग्बी स्कूल के प्राचार्य थॉमस आर्नोल्ड के नाम पर दी गई थी।

ज्योतिबा और सावित्रीबाई को मिस फैरार के बालिका विद्यालय से बहुत प्रेरणा मिली। ज्योतिबा एक

जगह स्वयं लिखते हैं : 'अहमदनगर के अमेरिकन मिशन में मिस फैरार ने जो स्कूल चलाया, उसे मैंने अपने मित्रों के साथ देखा। जिस ढंग से उन लड़कियों को शिक्षा दी जाती थी, वह पद्धति मुझे बहुत अच्छी लगी।' (स्रोत- भारतीय समाज-क्रान्ति के जनक महात्मा ज्योतिबा फुले, पृष्ठ-25, लेखक—डॉ. मु. ब. शहा, राधाकृष्ण प्रकाशन, 2013) सावित्रीबाई को सगुणाबाई नाम की महिला से भी बहुत सहयोग मिला था। सावित्री और सगुणाबाई ने मिसेज मिशेल के नार्मल स्कूल से प्रशिक्षण भी लिया था। अगस्त, 1848 में पूना के बुधवार पेठ में ज्योतिबा ने अछूत बच्चों के लिए एक स्कूल शुरू किया जो पूरे भारत में अपने ढंग का पहला स्कूल था। सावित्रीबाई इसकी पहली शिक्षिका बनीं।

उल्लेखनीय है कि एक तरफ जहां जन्मना ब्राह्मण समुदाय के कुछ मूढ़मति लोगों ने ज्योतिबा का विरोध किया, वहीं उनके सबसे घनिष्ठ मित्र और सहयोगी भी जन्मना ब्राह्मण समुदाय के ही रहे। इनमें सखाराम यशवंत परांजपे, सदाशिवराव बल्लाल गोवंडे, मोरो विठ्ठल बालवेकर, बापुराव मांडे, मानाजी डेनाले और पंडित मोरेश्वर शास्त्री प्रमुख थे। (स्रोत- ज्योतिबा फुले, लेखक-मायाराम, प्रभात प्रकाशन, और मु। ब। शहा की उपरोक्त पुस्तक, पेज-28) पहली बार जब ज्योतिबा का स्कूल विरोधों की वजह से बंद हुआ तो जुनागंज पेठ में सदाशिवराव गोवंडे नाम के जन्मना ब्राह्मण ने ही उन्हें स्कूल के लिए अपनी जगह मुहैया कराई।

लहूजी बुबा मांग और राणबा महार वहां कुछ दलित बच्चों को ले आए। उस विद्यालय में शिक्षक के तौर पर विष्णु पंत शते नाम के जन्मना ब्राह्मण ही थे।

शेष पृष्ठ 14 पर

# सावित्रीबाई फुले : जिन्होंने औरतों को ही नहीं, मर्दों को भी उनकी जड़ता और मूर्खता से आज़ाद किया

■ रवीश कुमार



दुनिया में लगातार विकसित और मुखर हो रही नारीवादी सोच की ठोस बुनियाद सावित्रीबाई और उनके पति ज्योतिबा ने मिलकर डाली। दोनों ने समाज की कुप्रथाओं को पहचाना, विरोध किया और उनका समाधान पेश किया।

दो साड़ी लेकर जाती थीं। रास्ते में कुछ लोग उन पर गोबर फेंक देते थे। गोबर फेंकने वाले ब्राह्मणों का मानना था कि शूद्र-अतिशूद्रों को पढ़ने का अधिकार नहीं है। घर से जो साड़ी पहनकर निकलती थीं वो दुर्गंध से भर जाती थी। स्कूल पहुंच कर दूसरी साड़ी पहन लेती थीं। फिर लड़कियों को पढ़ाने लगती थीं।

यह घटना 1 जनवरी 1848 के आस-पास की है। इसी दिन सावित्रीबाई फुले ने पुणे शहर के भिड़ेवाडी में लड़कियों के लिए एक स्कूल खोला था। आज उनका जन्मदिन है।

आज के दिन भारत की सभी महिलाओं और पुरुषों को उनके सम्मान में उन्हीं की तरह का टीका लगाना चाहिए क्योंकि इस महिला ने स्त्रियों को ही नहीं मर्दों को भी उनकी जड़ता और मूर्खता से आज़ाद किया है।

इस साल दो जनवरी को केरल में अलग-अलग दावों के अनुसार तीस से पचास लाख औरतें छह सौ किमी रास्ते पर दीवार बन कर खड़ी थीं। 1848 में सावित्रीबाई अकेले ही भारत की करोड़ों औरतों के लिए दीवार बन कर खड़ी हो गई थीं।

केरल की इस दीवार की नींव सावित्रीबाई ने अकेले डाली थी। अपने पति ज्योतिबा फुले और सगुणाबाई से मिलकर।

इनकी जीवनी से गुज़रिए आप गर्व से भर जाएंगे। सावित्रीबाई की तस्वीर हर स्कूल में होनी चाहिए चाहे वह सरकारी हो या प्राइवेट। दुनिया के इतिहास में ऐसे

महिला नहीं हुई।

जिस ब्राह्मणवाद ने उन पर गोबर फेंके, उनके पति ज्योति बा को पढ़ने से पिता को इतना धमकाया कि पिता ने बेटे को घर से ही निकाल दिया। उस सावित्रीबाई ने एक ब्राह्मण की जान बचाई जब उससे एक महिला गर्भवती हो गई। गांव के लोग दोनों को मार रहे थे। सावित्रीबाई पहुंच गई और दोनों को बचा लिया।

सावित्रीबाई ने पहला स्कूल नहीं खोला, पहली अध्यापिका नहीं बनीं बल्कि भारत में औरतें अब वैसी नहीं दिखेंगी जैसी दिखती आई हैं, इसका पहला जीता जागता मौलिक चार्टर बन गई।

उन्होंने भारत की मरी हुई और मार दी गई औरतों को दोबारा से जन्म दिया। मर्दों का चोर समाज पुणे की विधवाओं को गर्भवती कर आत्महत्या के लिए छोड़ जाता था। सावित्रीबाई ने ऐसी गर्भवती विधवाओं के लिए जो किया है उसकी मिसाल दुनिया में शायद ही हो।

‘1892 में उन्होंने महिला सेवा मंडल के रूप में पुणे की विधवा स्त्रियों के आर्थिक विकास के लिए देश का पहला महिला संगठन बनाया। इस संगठन में हर 15 दिनों में सावित्रीबाई स्वयं सभी गरीब दलित और विधवा स्त्रियों से चर्चा करतीं, उनकी समस्या सुनती और उसे दूर करने का उपाय भी सुझाती।’

मैंने यह हिस्सा फार्वर्ड प्रेस में सुजाता पारमिता के लेख से लिया है। सुजाता ने सावित्रीबाई फुले का जीवन-वृत विस्तार से लिखा है। आप उसे पढ़िए और शिक्षक हैं तो क्लासरूम में पढ़ कर सुनाइये। ये हिस्सा ज़ोर-ज़ोर से पढ़िए।

‘फुले दम्पति ने 28 जनवरी 1853 में अपने पड़ोसी मित्र और आंदोलन के साथी उस्मान शेख के घर में बाल हत्या प्रतिबंधक गृह की स्थापना की। जिसकी

पूरी जिम्मेदारी सावित्रीबाई ने संभाली।

वहां सभी बेसहारा गर्भवती स्त्रियों को बगैर किसी सवाल के शामिल कर उनकी देखभाल की जाती उनकी प्रसूति कर बच्चों की परवरिश की जाती जिसके लिए वहीं पालना घर भी बनाया गया। यह समस्या कितनी विकराल थी इसका अंदाजा इसी बात से लगाया जा सकता है कि मात्र 4 सालों के अंदर ही 100 से अधिक विधवा स्त्रियों ने इस गृह में बच्चों को जन्म दिया।

दुनिया में लगातार विकसित और मुखर हो रही नारीवादी सोच की ऐसी ठोस बुनियाद सावित्रीबाई और उनके पति ज्योतिबा ने मिलकर

डाली। दोनों ऑक्सफोर्ड नहीं गए थे। बल्कि कुप्रथाओं को पहचाना, विरोध किया और समाधान पेश किया।

मैंने कुछ नया नहीं लिखा है। जो लिखा था उसे ही पेश किया है। बल्कि कम लिखा है। इसलिए लिखा है ताकि हम सावित्रीबाई फुले को सिर्फ डाक टिकटों के लिए याद न करें।

याद करें तो इस बात के लिए कि उस समय का समाज कितना घटिया और निर्दयी था, उस अंधविश्वासी समाज में कोई तार्किक और सहृदयी एक महिला भी थी जिसका नाम सावित्रीबाई फुले था।

(यह लेख मूल रूप से रवीश कुमार के फेसबुक पेज पर प्रकाशित हुआ है।)

## ज्योतिबा और सावित्रीबाई फुले का संघर्ष

पृष्ठ 12 का शेष

और जब विद्यार्थियों की संख्या बढ़ने लगी और बड़ी जगह की जरूरत पड़ी तो उसी गली के एक मुसलमान भाई उस्मान शेख ने ज्योतिबा को स्कूल के लिए जगह दी। उस्मान शेख की बहन फातिमा शेख भी सावित्रीबाई के साथ शिक्षिका की भूमिका में आ गई।

विशेष तौर पर केवल लड़कियों के लिए पहला विशाल स्कूल तीन जुलाई, 1857 को बुधवार पेठ में ज्योतिबा ने खोला। इस स्कूल के लिए जगह देनेवाले अण्णा साहब चिपलूणकर भी जन्मना ब्राह्मण ही थे। (स्रोत—उपरोक्त डॉ. मु. ब. शहा की पुस्तक, पेज-26) सावित्रीबाई जब घर से स्कूल और स्कूल से घर आती-जाती तो उनपर गोबर और पत्थर फेंके जाते। एक पहरेवाला ब. स. कोल्हे नाम का एक गृहस्थ कुछ दिनों तक उनके साथ चलता रहा। सावित्री बाई के इस महान कार्य को शिक्षा विभाग के जिस सरकारी अधिकारी ने सबसे पहले नोटिस किया और उसकी सराहना कर सबके सामने लाया वह भी एक जन्मना ब्राह्मण दादोबा पांडुरंग तरबंडकर थे। दादोबा विख्यात व्याकरणकार और मराठी स्कूलों के विभागीय सचिव थे। उन्होंने 16 अक्टूबर, 1857 को ज्योतिबा -सावित्रीबाई के इन स्कूलों का मुआयना किया था।

19 नवंबर, 1852 को पुणे महाविद्यालय के प्राचार्य मेजर कंठी ने एक विशाल समारोह में 200 रुपये का महावस्त्र और श्रीफल देकर ज्योतिबा का सम्मान किया था। 'बॉम्बे गार्डियन', पूना ऑब्ज़र्वर, ज्ञानप्रकाश और ज्ञानोदय जैसे तत्कालीन समाचार पत्रों ने ज्योतिबा के इस कार्य की मुक्त कंठ से सराहना की। दिलचस्प है कि कुछ मूढ़मति और कट्टर 'सवर्णों' के उकसावे पर जिन दो लोगों ने ज्योतिबा और सावित्रीबाई फुले को जान से मारने की कोशिश की थी उनके नाम हैं—घोंडीराव नामदेव कुम्हार और रोद्रे। ये बात और है कि इनमें से एक हमेशा के लिए ज्योतिबा का अंग-रक्षक बन गया और दूसरा ज्योतिबा के 'सत्यशोधक समाज' का प्रबल समर्थक सिद्ध हुआ।

ये सारे प्रसंग आज इसलिए कि जब हम भारतीय समाज को

केवल नकारात्मक और संघर्षवादी नज़रिए से देखने लगते हैं तब उसकी सामासिक संस्कृति के मानवीय पहलुओं और प्रसंगों को नज़रअंदाज कर देते हैं। कई बार अनजाने में और कई बार जान-बूझकर भी। सावित्री और ज्योतिबा को एक-दूसरे के रूप में कितना सुंदर साथी मिला। दोनों ने लगातार और सप्रयास न केवल अपने प्रेमास्पद और सोद्देश्यात्मक दाम्पत्य को सींचा, बल्कि जब जिसका सहयोग मिला उससे लिया। उन्होंने सभी समुदाय के लोगों को अपनाया, सबसे सीखा। और इसलिए सभी समुदाय के लोगों ने उन्हें अपनाया, सहयोग दिया। उनका शुरुआती आक्रोश भी धीरे-धीरे पिघलकर एकतामूलक समाज की स्थापना हेतु बह चला। प्रतिक्रिया की जगह उनका कार्य रचनात्मक प्रबोधन का रहा। महात्मा ज्योतिबा के इस मराठी अभंग में इसी की झलक तो मिलती है—

‘मांग आर्यामध्ये पाहूं जाता खूण। एक आत्म जाण। दोघां मध्ये।।  
दोघे ही सारीखे सर्व खाती पिती। इच्छा ती भोगती सारखेच।  
सर्व ज्ञाना मध्ये आत्मज्ञान श्रेष्ठ। कोणी नाही भ्रष्ट। जोती म्हणे।।’  
(यानी महार, मांग और कथित आर्यों में कोई भेद नहीं। दोनों में एक ही आत्मा का निवास है। दोनों समान ढंग से खाते-पीते हैं। उनकी इच्छाएं भी समान होती हैं। जोति यह कहता है कि सारे ज्ञान में आत्मज्ञान श्रेष्ठ है, और कोई भी भ्रष्ट नहीं है, इसे जान लो।)

गांधी और कस्तूरबा के दाम्पत्य की तरह ज्योतिबा -सावित्री का दाम्पत्य भी बहुत ही मोहक और अनुकरणीय है। उसमें कहीं भी प्रतिक्रियावाद और अंध-नकारवाद की जगह नहीं है। वैकल्पिक 'राष्ट्रपिता' और वैकल्पिक 'शिक्षक दिवस' की मांग हमें कहीं-न-कहीं प्रतिक्रियावादी बनाती है। वह ज्योतिबा फुले और सावित्रीबाई जैसी महान शख्सियतों की गरिमा को बढ़ाने की जगह उसे कम ही करती है। एक समतामूलक समाज की रचना सबको जोड़ने से होगी, तोड़ने से नहीं।

साभार : सत्याग्रह

---

# भारत को नसीरुद्दीन शाह जैसे और लोगों की ज़रूरत है

## ■ सिद्धार्थ भाटिया

---

जहां बॉलीवुड के अधिकतर अभिनेता सच से मुंह मोड़ने और चुप्पी ओढ़ने के लिए जाने जाते हैं, वहीं मुखरता नसीरुद्दीन शाह की पहचान रही है। उनका व्यक्तित्व उन्हें फिल्म इंडस्ट्री की उस भीड़ से अलग करता है, जिसके लिए शक्तिशाली की शरण में जाना, गिड़गिड़ाते हुए माफी मांगना और कभी भी मन की बात न कहना एक रिवाज-सा बन चुका है।

भीड़ द्वारा की जाने वाली हिंसा की घटनाओं में बढ़ोतरी होने और पुलिसकर्मी की मौत से ज्यादा अहमियत गाय की मौत को दिए जाने के बारे में अभिनेता नसीरुद्दीन शाह के बयान पर दक्षिणपंथियों ने अगर अपनी तयोरियां चढ़ा लीं, तो इसमें हैरान होने जैसा कुछ नहीं है।

मौजूदा समय में भारत में जो कुछ भी हो रहा है, उसको लेकर की जाने वाली हर आलोचनात्मक टिप्पणी को हिंदुत्ववादी लड़ाके, अपने भगवान नरेंद्र मोदी के खिलाफ अभियोग के तौर पर देखते हैं।

उनकी नजर में ऐसी आलोचना आखिरकार किसी न किसी रूप में हिंदू विरोधी है; और अगर इस सब में गाय को मिला दिया जाए, तो उनका गुस्सा किसी आग के गोले का रूप ले लेता है। इसके अलावा शाह एक मुस्लिम हैं और एक मुस्लिम का अपने मन की बात कहना गद्दारी से कम नहीं है।

ऐसा नहीं है कि शाह ने किसी भी मसले पर अपने नजरिए को गोपनीय रखा है। वे अपने मन की बात कहने के लिए जाने जाते हैं और और वे अपनी इंडस्ट्री के लोगों और इसके चमकते

सितारों को भी नहीं बख्शते।

पहले, 1980 के दशक में जब कि वे समानांतर सिनेमा जगत के एक स्टार थे, उन्होंने आर्टहाउस फिल्मों को दायम दर्जे का यहां तक कि फर्जी करार दिया था। इससे उन्होंने कोई दोस्ती नहीं बनाई।

साक्षात्कारों में उन्होंने बिना किसी लाग-लपेट के कहा कि राजेश खन्ना अभिनेता नहीं थे और अमिताभ बच्चन की फिल्मों को खारिज किया। हाल ही में उन्होंने विराट कोहली को 'दुनिया का सबसे खराब आचरण वाला खिलाड़ी' बताया। यह बात कई दूसरे लोगों ने भी कही है।

वे राजनीतिक घटनाओं पर नजर बनाए रखते हैं, अच्छे-खासे पढ़े-लिखे हैं और मौजूदा घटनाओं को लेकर काफी सुविचारित नजरिया रखते हैं। वे पक्के धर्मनिरपेक्ष हैं। उन्होंने अपने बच्चों पर कोई धर्म नहीं थोपा है और उन्हें अपना रास्ता चुनने के लिए आजाद छोड़ा है।

2015 में शिवसेना ने उस समय उनका विरोध किया था जब उन्होंने यह कहा कि पाकिस्तानी कलाकार भारत में दुश्मनों जैसी अगवानी पाते हैं, जबकि भारतीय कलाकारों को पाकिस्तान में ऐसी समस्याओं का सामना नहीं करना पड़ता है। उस समय शाह ने कहा था कि उनके मुसलमान होने के कारण उन्हें निशाना बनाया जा रहा है।

इस तरह देखें, तो वे वही कह रहे थे, जो वे सच में महसूस करते हैं। और ऐसे नजरिए के प्रति अपनी असहिष्णुता का फिर से प्रदर्शन करते हुए हिंदुत्व के लड़ाकों ने वही किया, जिसे करने में उन्हें महारथ हासिल है—उन्होंने अजमेर

में आयोजित एक साहित्यिक महोत्सव में उनकी (शाह की) उपस्थिति का विरोध किया।

राजस्थान की अशोक गहलोत सरकार ने सुस्त चाल से प्रतिक्रिया दी, जिसमें शायद हम आने वाले भविष्य का संकेत पढ़ सकते हैं। इसके बाद कार्यक्रम का स्थान बदलकर पुष्कर कर दिया गया, जहां लोग कम थे। यहां उन्होंने एक किताब का विमोचन किया और अपने प्रशंसकों के लिए एक वीडियो संदेश जारी किया।

इस तरह से शाह ने हिंदुत्ववादी तत्वों को तुरूप की चाल से मात दे दी। वे न ही पीछे हटे हैं और न ही 'अगर किसी की भावना आहत हुई हो तो मैं माफी मांगता हूँ' जैसा कोई झूठा बयान ही दिया है और न ही सुलह कराने के लिए प्रभावशाली लोगों के दरबार में ही गए हैं।

यह उन्हें इंडस्ट्री में अपने सहकर्मियों से अलग करता है, जहां शक्तिशाली लोगों की शरण में जाने, गिड़गिड़ाते हुए माफी मांगने और कभी भी मन की बात न करने की कसम खाने का एक रिवाज जैसा है।

कुछ कलाकारों ने कुछ भी न बोलने की कला को साध लिया है; मानों वे किसी समानांतर ब्रह्मांड में रहते हों, जहां वे अपने इर्द-गिर्द होने वाली घटनाओं से अछूते रहते हैं।

बहुत से ऐसे फनकार हैं जिनमें संवेदनशीलता की कमी नहीं है—परंतु वे आलोचना के बाद मुंह बंद रखने की कसम खा लेते हैं। कुछ ऐसे लोग भी हैं, जो धमकियों के पहले संकेत पर ही समर्पण कर देते हैं और दयनीय तरीके से माफी मांग लेते हैं। शाह ने ऐसा कुछ नहीं किया।

इसकी जगह उन्होंने शांत तरीके से नाफरमानी करने का रास्ता अपनाया है; और एक नागरिक और एक रचनात्मक व्यक्ति के तौर पर अपनी अभिव्यक्ति की आजादी को दर्ज किया है।

वे येन-केन-प्रकारेण विवादों को जन्म देने वाले के तौर पर नहीं जाने जाते हैं— वे मीडिया को हर विषय पर अपनी टिप्पणी देने के लिए उपलब्ध रहने वालों में से नहीं है। उनकी प्रतिक्रियाएं काफी सुविचारित होती हैं, जो किसी विषय पर काफी लंबे समय तक विचार करने का नतीजा होती हैं।

इस मामले में भी यह किसी रिपोर्टर के सवाल पूछने पर सबके सामने अनायास निकल गई टिप्पणी नहीं थी, न ही इसका मकसद सस्ती राजनीतिक लोकप्रियता हासिल करना था।

उन्होंने काफी संयत तरीके से, कभी लोकसेवक रहे हर्ष मंदर द्वारा भाईचारे के संदेश का प्रसार करने के मकसद से शुरू की गई राष्ट्रव्यापी 'यात्रा' कारवां-ए-मोहब्बत के लिए तैयार

किए जा रहे एक वीडियो के लिए अपनी बात रखी थी। और सही समझ वाला कौन व्यक्ति होगा जो शाह की बात से इत्तेफाक नहीं रखेगा?

संगठित गिरोह जिस तरह से बेकसूर लोगों की पीट-पीट कर हत्या कर देने के बाद भी बिना सजा पाए घूम रहे हैं, उससे भारतीय चिंतित हैं। कई अभिभावक एक ऐसे देश में अपने बच्चों को बड़ा होता देखकर चिंतित हैं, जहां किसी को 'गलत' खाना खा लेने के लिए पीटा जा सकता है या कोई नुकसान पहुंचाने वाली फेसबुक टिप्पणी के लिए गिरफ्तार किया जा सकता है।

ऐसे समय में वैसे तमाम नागरिक, जिसके पास मंच है और आवाज है, का यह दायित्व है कि वह इसके खिलाफ खड़े हों और अपनी आवाज उठाएं।

भारत में इसका उलटा हुआ है। मीडिया नतमस्तक है, कारोबारी दबी जुबान में बात करते हैं। सत्ताधारी प्रतिष्ठान या इसकी विचारधारा की दूर से भी आलोचना करनेवाली कोई बात, दबी जबान में की जाती है और इसके साथ अक्सर किसी से यह सब न कहने की ताकीद जुड़ी रहती है।

कितनी ही बार हमारी मुलाकात ऐसे लोगों से होती है, जो यूं तो काफी ताकतवर हैं, लेकिन जो किसी विवादास्पद मसले पर कुछ भी बोलने से इनकार कर देते हैं, क्योंकि वे ऐसा करने के नतीजे से डरते हैं।

जहां तक फिल्म इंडस्ट्री की बात तो है, तो इसकी गढ़ी गई चमक-दमक के पीछे चारित्रिक दुर्बलता की कड़वी सच्चाई है। कुछ ने खुशी-खुशी सत्ता के साथ, चाहे वे कोई हों, हाथ मिला लिया है और वे उनके लिए बोलने के लिए तैयार हैं। बाकियों ने चुप रहने का रास्ता चुना है।

नसीरुद्दीन शाह की साफगोई न सिर्फ ताजे हवा के झोंके के समान है, बल्कि स्वागत के योग्य भी है। वे एक सम्मानित अभिनेता और सार्वजनिक हस्ती हैं। वे अपने उसूलों को लेकर अडिग रहे हैं। उनके विचार अहमियत रखते हैं।

यह उनका कद है, जो दक्षिणपंथियों, हिंदुत्व मंडली और उनके आकाओं को क्रोधित करता है। वे उन्हें नजरअंदाज नहीं कर सकते हैं और उन्हें मालूम है कि सार्वजनिक जगत में उनके शब्दों का महत्व है। उनसे उन्हें डर लगता है। यही कारण है कि वे उनके पीछे पड़ गए।

यही वजह है कि हमें पहले के किसी भी समय की तुलना में आज इस देश में नसीरुद्दीन शाह जैसे औरों की जरूरत है।

साभार : द वायर



---

# विवेकानंद : जाति-पुरोहितवाद से लड़ने वाले क्रांतिकारी जिन्हें भगवा हिंदूवादी बना दिया गया

## ■ अव्यक्त

---

हर दौर में दुनिया में ऐसी कई ऐतिहासिक शख्सियतें हुई हैं, जिन्होंने अपेक्षाकृत कम उम्र में ही समाज में हलचलें पैदा कर दीं। सुदूर अतीत में ईसा मसीह और शंकराचार्य हुए जिनका जीवनकाल बहुत छोटा रहा। हाल के इतिहास में छोटी उम्र के बड़े क्रांतिकारियों में भगत सिंह, मार्टिन लूथर किंग जूनियर और स्वामी विवेकानंद जैसे उदाहरण सामने आते हैं।

स्वाभाविक है कि यदि छोटे से जीवन में बड़े काम हुए हैं, तो उनका जीवन भी नाटकीय घटनाओं से भरा रहा होगा। परिस्थितियों के मारे उनमें तेजी से आनेवाले बदलावों की एक श्रृंखला रही होगी। उनके व्यक्तित्व का कोई ऐसा अनोखा पहलू रहा होगा, जो उन्हें अपने समकालीनों से अलग करता होगा। यह सब कुछ मिलकर उनके जीवन को किंवदंती बनाता होगा।

बाद की पीढ़ियों में ऐसे लोगों की 'लार्जर दैन लाइफ' छवियां लोकमन में बनने लगती हैं। उनकी वैचारिक विरासतों को समझने, सहेजने और आगे बढ़ाने का सिलसिला भी चल पड़ता है। उनके सूत्र वाक्यों को उद्धरणों के रूप में बार-बार पेश किया जाता है। समाज को इसका थोड़ा फायदा भी मिल जाता है। लेकिन ऐसी शख्सियतों का दोहन जब सियासी प्रतीकों के रूप में होने लगता है, तो उनके जीवन का तटस्थ मूल्यांकन नहीं हो पाता। इससे नए अध्येताओं के लिए भी भटकाव की पूरी संभावना बन जाती है। हमारे यहां के कई अन्य ऐतिहासिक व्यक्तित्वों की तरह स्वामी विवेकानंद के साथ भी ऐसा ही होता दिख रहा है।

39 वर्ष के उनके जीवनकाल के अंतिम दस वर्ष लगातार भ्रमण और सार्वजनिक उद्बोधन वाले रहे। लेकिन

लगभग नास्तिकता के कगार पर पहुंच चुके नरेंद्र के आध्यात्मिक विवेकानंद बनने की प्रक्रिया को समझे बिना हमें उनकी सच्ची थाह नहीं मिल सकती। एक भावुक, जिद्दी और जोशीले, लेकिन आजीवन तनावग्रस्त रहने वाले युवक को गेरुआधारी स्वामी या अष्ट-सिद्धियां प्राप्त कर लेने वाले चमत्कारी महामानव के रूप में ही देखने से हम अभिभूत भले हो जाएं, लेकिन उनके व्यक्तिगत, सामाजिक और आध्यात्मिक अनुभवों का लाभ हम नहीं ले पाएंगे।

पश्चिमी दर्शनशास्त्र को खूब चाव से चाटकर पढ़ जाने वाले नरेंद्र को उसमें भी कोई समाधान नजर नहीं आ रहा था। वह थक-हार कर बार-बार रामकृष्ण देव के पास पहुंच तो जाता, लेकिन उनके तौर-तरीकों पर उसको श्रद्धा नहीं बन पाती।

पिता की अचानक मृत्यु के बाद एक बीए पास बेरोजगार नरेंद्र पर पारिवारिक जिम्मेदारियों का पहाड़ टूट पड़ता है। खर्चीले टाट-बाट में रहने वाले पिता एक मकान के अलावा कुछ भी संपत्ति छोड़कर नहीं जाते हैं। घर का खर्च, दो छोटे भाई और एक बहिन की परवरिश और फिर अपना सामाजिक स्टेटस बनाए रखने का दबाव उसे बेचैन कर देता है। रही-सही कसर तब पूरी हो जाती है जब खानदान ही एक व्यक्ति उसके परिवार को बेघर करने के लिए मुकदमा दायर कर देता है। उसे और उसके परिवार को कई बार भूखा तक रहना पड़ता है। नरेंद्र तो कई बार भूख के मारे बेहोश तक हो जाता। वह नंगे सिर और नंगे पैर दिन भर कलकत्ते में नौकरी के लिए दर-दर भटकता और शाम को खाली हाथ टूटे मन से घर लौट आता है। ये दुष्कर परिस्थितियां कभी-कभी तो नरेंद्रनाथ में इतना

द्रोहभाव भर देती कि वह बिल्कुल ही नास्तिक हो जाता। और जब विपत्ति में कुछ नहीं सूझता तो तर्कवादी नरेंद्र एक सामान्य आस्तिक की भांति रामकृष्ण देव के पास जाकर हाथ जोड़कर कहता—‘गुरुदेव! कालीजी से निवेदन कर दीजिए कि हमारे मां, बहिन, भाई को दो दाने खाने को मिलने लगे।’

कुछ लोग मानते हैं कि बचपन में घर के गाड़ीवान ने बालक नरेंद्र के सामने वैवाहिक जीवन के पचड़ों का दुःखपूर्ण और घृणास्पद चित्रण किया था, जिसकी वजह से उसने विवाहित सीता और राम की पूजा तक करनी छोड़ दी थी। लेकिन घर-गृहस्थी और कुल-खानदान का दुःखद अनुभव नरेंद्र को स्वयं भी हो चुका था और यहीं से अब वास्तविक वितृष्णा की धारा फूट पड़ी। पहले तो अटॉर्नी ऑफिस में काम करके, फिर कुछ अनुवाद का काम और स्कूल में पढ़ाकर घर की स्थिति थोड़ी पटरी पर लाई, लेकिन आगे अपने लिए कोई रास्ता नहीं सूझ रहा था। पश्चिमी दर्शनशास्त्र को खूब चाव से चाटकर पढ़ जाने वाले नरेंद्र को उसमें भी कोई समाधान नजर नहीं आ रहा था। वह थक-हार कर बार-बार रामकृष्ण देव के पास पहुंच तो जाता, लेकिन उनके तौर-तरीकों पर उसको श्रद्धा नहीं बन पाती।

फिर भी रामकृष्ण में जो बात उसे आकर्षित करती थी, वह था उनका सरल लेकिन रहस्यमयी व्यक्तित्व। भयानक शारीरिक कष्ट में भी रामकृष्ण के मस्तमौला बने रहने की अदा भी उसको खूब भाती। धन और सांसारिक जीवन को पूरी तरह त्यागकर जिस किसी भांति आम लोगों की सेवा में जुट जाने की रामकृष्ण की धुन से वह प्रभावित हुए बिना नहीं रहता। और ऊपर से रामकृष्ण उसे बार-बार कहते रहते कि तेरे हाथों कुछ और होना है, तू इस कंचन और कामिनी के चक्कर में न पड़। लेकिन स्वयं भावुक होने के बावजूद नरेंद्र को यह सब भावातिरेक में कही गई बातें ही लगती।

अपने जीते-जी तो रामकृष्ण उसके लिए एक सहानुभूति और सामान्य मार्गदर्शन का बहाना बने रहे। लेकिन नरेंद्र को असली धक्का तब पहुंचा जब अनमने ढंग से ही सही लेकिन गुरु मान लिया गया यह बाबा जल्दी ही संसार छोड़कर चला गया। इससे एक तरफ तो उसे अनाथ होने जैसा बोध होने लगा और दूसरी ओर रामकृष्ण की जिम्मेदारियां अपने ऊपर उठा लेने का साहस भी पैदा हो गया। सांसारिक ऊहापोह में फंसे नरेंद्र के आध्यात्मिक विवेकानंद में कायांतरित हो जाने की वास्तविक घड़ी यही थी।

भारतीय समाज की तत्कालीन दुर्दशा देखकर उन पर प्रायः एक बेचैनी और अधीरता हावी रहती। इसलिए उनकी आध्यात्मिक साधना भी तत्कालीन भारत की सामाजिक जरूरतों के हिसाब से ढल गयी

यह एक अजीब बात थी कि जिस व्यक्ति से उन्हें शास्त्रीय ज्ञान या योगविद्या इत्यादि सीखने को न मिले, उसे ही उन्होंने आजीवन अपना गुरु माना। बाद में जिस किसी से भी उन्होंने अष्टाध्यायी (संस्कृत

व्याकरण), उपनिषद् और योगविद्या इत्यादि सीखी, उसे वे अपने गुरु का दर्जा न दे सके। 1890 में एक बार गाजीपुर के एक योगी संत पवहारी बाबा से योग की दीक्षा लेने की बात उनके मन में आई, तो उन्हें तुरंत ही बहुत ग्लानि भी महसूस होने लगी। उन्हें याद आ गया था कि वे पहले ही रामकृष्ण को अपना गुरु मान चुके हैं।

भारत भ्रमण पर निकलने के बाद जब विवेकानंद ने एक तरफ धार्मिक मठों और मंदिरों की अन्यायकारी व्यवस्था देखी, और दूसरी ओर देश के गरीबों और दबे-कुचलों की दयनीय स्थिति देखी, तो उनका हृदय करुणा से भर गया। लेकिन स्वयं अपने जीवन में जिस ताप से उनका रोम-रोम जल चुका था, वह उनके हृदय में कहीं न कहीं गड़ा हुआ था। इसलिए यथास्थिति पर जब भी उनका मुंह खुलता, तो कठोर भाषा ही निकलती। अप्रिय परिस्थितियां पैदा करने वाले लोगों और संगठनों के लिए उनके मुंह से ‘कीड़ों’, ‘कायरों’, ‘मूर्ख’ और ‘सड़े-गले मुर्दों’ जैसे शब्द ही आम तौर पर निकला करते।

भारतीय समाज की तत्कालीन दुर्दशा देखकर उनपर प्रायः एक बेचैनी और अधीरता हावी रहती। इसलिए उनकी आध्यात्मिक साधना भी तत्कालीन भारत की सामाजिक जरूरतों के हिसाब से ढल गयी। यह एक बात उन्हें उस समय के सारे आध्यात्मिक और सांस्कृतिक आंदोलनों से अलग करती थी। चाहे वह ब्रह्म समाज हो, आर्य समाज हो या थियोसोफिकल सोसायटी हो। पाठ करते-करते वे अचानक गीता को बंद करके एक ओर रख देते और कहते — ‘क्या होगा गीता पाठ करके’। ‘गीता’ का विलोम ‘त्याग’ चाहिए।

आज भले ही कुछ लोगों को विवेकानंद ठेठ हिंदूवादी प्रतीत होते हों, लेकिन यह हिंदूवाद उनके अपने तरह का था जिसे शायद आज का राजनीतिक हिंदूवाद भुनाना चाहता है। वास्तव में, सार्वजनिक जीवन में आने के बाद विवेकानंद को एक ओर आध्यात्मिक वेदांत की विराटता अपनी ओर खींचती तो दूसरी ओर सामाजिक परिस्थितियां उन्हें उद्वेलित और विचलित कर देती थीं। और जैसे ही उन्हें इसके लिए जिम्मेदार कुछ दिखाई देता, वे तैश और प्रतिक्रिया से भर उठते। कलकत्ता जो ब्रह्म समाजियों का गढ़ था, वहां इस संस्था ने ‘हिंदू’ शब्द और हिंदू समाज को लगातार कोसने का रवैया अपना लिया था। दूसरी ओर ईसाई मिशनरी भी सांप्रदायिकतावश हिंदू समाज की कटु आलोचना बारंबार करते रहते थे। इसी से क्षुब्ध होकर विवेकानंद ने समसामयिक समाज में थोड़ा आत्मविश्वास भरने के लिए हिंदू शब्द का सहारा लेना शुरू किया।

लेकिन इस पर अपनी स्थिति को अच्छी तरह से स्पष्ट करने के लिए एक बार उन्होंने कहा था — ‘मुझे जो कुछ कहना है, मैं उसे अपने ही भावों में कहूंगा। मैं अपने वाक्यों को न तो हिंदू ढांचे में ढालूंगा, न ईसाई ढांचे में और न किसी दूसरे ढांचे में ही।’ दुनिया भर की सभ्यताओं और ज्ञान-विज्ञान के प्रति उनका आकर्षण

जगजाहिर था। उन्होंने भारत के लोगों को अरब के मुसलमानों से साफ-सफाई और स्वच्छता सीखने को कहा था जो रेगिस्तानी कारवां में भी अपने खाने पर धूल नहीं पड़ने देते।

किसी समय में वर्णाश्रम की वैज्ञानिक व्यवस्था को अंशतः स्वीकारते हुए भी उन्होंने जाति-व्यवस्था की इतनी कटु भाषा में आलोचना की है, जितना उनके समकालीनों में महात्मा ज्योतिबा फुले के अलावा और शायद किसी ने नहीं की है।

विवेकानंद के साहित्य का सबसे बड़ा हिस्सा जातिवाद और पुरोहितवाद के खिलाफ ही है। समाजवाद ने भी उन्हें सहज ही आकर्षित किया था। नवंबर, 1894 में न्यूयॉर्क से अलासिंगा पेरुमल को वे चिट्ठी में लिखते हैं— 'अन्न! अन्न! मुझे इस बात का विश्वास नहीं है कि वह भगवान जो मुझे यहां पर अन्न नहीं दे सकता, वह स्वर्ग में मुझे अनंत सुख देगा। राम कहो! भारत को उठाना होगा, गरीबों को खिलाना होगा, शिक्षा का विस्तार करना होगा और पौरोहित्य की बुराइयों को ऐसा धक्का देना होगा कि वे चकराती हुई एकदम अटलांटिक महासागर में जाकर गिरें।'

जापान से अपने मद्रासी मित्रों को लिखे एक पत्र में वे कहते हैं— 'आओ मनुष्य बनो। उन पाखंडी पुरोहितों को जो सदैव उन्नति में बाधक होते हैं, बाहर निकाल दो, क्योंकि उनका सुधार कभी न होगा। उनके हृदय कभी विशाल न होंगे। उनकी उत्पत्ति तो सैकड़ों वर्षों के अंधविश्वासों और अत्याचारों के फलस्वरूप हुई है। पहले इनको जड़मूल से निकाल फेंको।'

किसी समय में वर्णाश्रम की वैज्ञानिक व्यवस्था को अंशतः स्वीकारते हुए भी उन्होंने जाति-व्यवस्था की इतनी कटु भाषा में आलोचना की है, जितना उनके समकालीनों में महात्मा ज्योतिबा फुले के अलावा और शायद किसी ने नहीं की है। जाति से ब्राह्मण नहीं होने की वजह से स्वयं विवेकानंद को भयंकर भेदभाव का शिकार होना पड़ा। इतना कि कलकत्ते में उनके लिए सार्वजनिक सभा तक करना मुश्किल हो गया और कुछ समय के लिए उन्होंने प्रण किया कि वे केवल व्यक्तिगत प्रवचन ही करेंगे।

एक स्थान पर वे कहते हैं— 'स्मृति और पुराण सीमित बुद्धिवाले व्यक्तियों की रचनाएं हैं और भ्रम, त्रुटि, प्रमाद, भेदभाव और द्वेषभाव से परिपूर्ण हैं। ...राम, कृष्ण, बुद्ध, चैतन्य, नानक, कबीर आदि सच्चे अवतार हैं, क्योंकि उनके हृदय आकाश के समान विशाल थे। ...पुरोहितों की लिखी हुई पुस्तकों में ही जाति जैसे पागल विचार पाए जाते हैं।' लेकिन बाद में चालाकी से कुछ लोगों ने उनकी एक ऐसी छवि गढ़ी जिससे वे भी भगवा-वस्त्रधारी हिंदूवादी साबित हो जाएं। यही कारण है कि न तो प्रगतिशीलों ने उन्हें अपनाया, न समाजवादियों ने और न ही जाति-विरोधी आंदोलनों ने। उनको हड़पा भी तो किसने— राजनीतिक हिंदूवादियों ने। असली विवेकानंद को जानने पर यह एक

बहुत बड़ा विरोधाभास नजर आता है।

जीवन के एक पड़ाव पर आकर वे वेदांत की विराटता के अनंत आनंद को महसूस करने लगे थे और उसके सामने कई बार बाकी सब कुछ उन्हें तुच्छ और छोटा नजर आने लगता। इस समय उनकी भाषा में एक अभिभावकपना भर जाता, मानो वे बाकी सबको अपना बच्चा समझ रहे हों। 'बच्चे', 'मेरे पुत्रो' 'वत्स' जैसे संबोधन का इस्तेमाल तो वे अक्सर ही करते थे, और ऐसा सहज होता हुआ दिखता था।

विवेकानंद किसी भी प्रकार की कट्टरता के खिलाफ थे। जीवन-चर्या को लेकर भी वे किसी कठोर अनुशासन के पक्षधर नहीं थे। उन्हें स्वयं भी मांसाहार और धूम्रपान से परहेज नहीं था।

विवेकानंद लगातार सीखते रहे और बदलते रहे। उन्हें जब जो सही लगा उसे बिना लाग-लपेट के और जोरदार तरीके से कहा। इसलिए कई बार वे अपने निर्णय और विचारों को तुरंत ही पलट देते थे। उसका एक नमूना यहां दिया जा रहा है : जून 1894 में शिकागो से शशि नाम के अपने एक गुरुभाई को वे चिट्ठी में लिखते हैं— 'चरित्र-संगठन हो जाए, फिर मैं तुम लोगों के बीच आता हूं, समझे ? दो हजार, दस हजार, बीस हजार संन्यासी चाहिए, स्त्री-पुरुष दोनों, समझे ? चले चाहिए चले, जिस तरह भी हों। गृहस्थ चेलों का काम नहीं, त्यागी चाहिए—समझे ? ...केवल चले मूड़ो, स्त्री-पुरुष जिसकी भी ऐसी इच्छा हो मूड़ लो, फिर मैं आता हूं। बैठे-बैठे गप्पें लड़ाने और घंटी हिलाने से काम नहीं चलेगा। घंटी हिलाना गृहस्थों का काम है।'

लेकिन एक महीने के भीतर अपने इसी गुरुभाई को लिखे दूसरे पत्र में वे अपनी राय बदल देते हैं, और वह भी उतने ही जोरदार तरीके से। वे लिखते हैं— 'हममें एक बड़ा दोष है— संन्यास की प्रशंसा। पहले-पहल उसकी आवश्यकता थी, अब तो हम लोग पक गये हैं। उसकी अब बिल्कुल आवश्यकता नहीं। समझे ? संन्यासी और गृहस्थ में कोई भेद न देखेगा, तभी तो यथार्थ संन्यासी है।'

विवेकानंद किसी भी प्रकार की कट्टरता के खिलाफ थे। जीवन-चर्या को लेकर भी वे किसी कठोर अनुशासन के पक्षधर नहीं थे। उन्हें स्वयं भी मांसाहार और धूम्रपान से परहेज नहीं था। हालांकि उन्होंने इन सब चीजों का कभी महिमांडन भी नहीं किया। जातिभेद के प्रसंग में उन्होंने अपने धूम्रपान से जुड़ी एक घटना का जिक्र अवश्य किया। आगरा और वृंदावन के बीच के रास्ते में उन्होंने तंबाकू पीने के लिए किसी से चिलम मांगी। उस आदमी ने कहा— 'महाराज, मैं मेहतर हूं।' विवेकानंद एकबार को तो आगे बढ़ गए, लेकिन तभी उनके मन में विचार उठने लगे कि मैंने तो जाति, कुल, मान सब त्यागकर संन्यास लिया है, तो मेहतर को नीच क्यों समझूं। वे वापस लौटे और मेहतर के हाथों से चिलम लेकर धूम्रपान किया।

महिलाओं के कल्याण के बारे में विवेकानंद के विचार अपने समय के नारीवादियों से कहीं आगे के थे। चीन, जापान अमेरिका और

यूरोप जहां कहीं भी वे गए, उन्होंने वहां की महिलाओं की स्थिति का खासतौर पर अध्ययन और विश्लेषण किया। सिस्टर निवेदिता से संगति और लगातार बहस ने भी उन्हें महिलाओं की स्थिति समझने में मदद की। इसलिए उन्होंने भारत की महिलाओं के उत्थान के बारे में जोरदार तरीके से अपनी बात रखी। 25 सितंबर 1894 को अपने प्रिय मित्र शशि (स्वामी रामकृष्णानंद) को न्यूयॉर्क से लिखी चिट्ठी में वे कहते हैं— 'मैं इस देश की महिलाओं को देखकर आश्चर्यचकित हो जाता हूँ।...ये कैसी महिलाएं हैं, बाप रे! मर्दों को एक कोने में ठूस देना चाहती हैं। मर्द गोते खा रहे हैं।...मैं स्त्री-पुरुष भेद को जड़ से मिटा दूंगा। आत्मा में भी कहीं लिंग का भेद है? स्त्री और पुरुष का भेदभाव दूर करो, सब आत्मा है।'

एक अन्य संन्यासी शिष्य को फटकारते हुए उन्होंने कहा था— 'तुम लोग स्त्रियों की निंदा ही करते रहते हो, परंतु उनकी उन्नति के लिए तुमने क्या किया, बताओ तो? स्मृति आदि लिखकर, नियम-नीति में बांधकर इस देश के पुरुषों ने स्त्रियों को एकदम बच्चा पैदा करने की मशीन बना डाला है।...सबसे पहले महिलाओं को सुशिक्षित बनाओ, फिर वे स्वयं कहेंगी कि उन्हें किन सुधारों की आवश्यकता है। तुम्हें उनके प्रत्येक कार्य में हस्तक्षेप करने का क्या अधिकार है? ...उन्नति के लिए सबसे पहले स्वाधीनता की आवश्यकता है। ...महिलाओं के प्रश्न को हल करने के लिए आगे बढ़ने वाले तुम हो कौन? अलग हट जाओ। अपनी समस्याओं की पूर्ति वे स्वयं कर लेंगी।'

उनकी भावुकता का एक अंतिम और अविश्वसनीय उदाहरण यह है कि संन्यास ग्रहण करने के बाद भी उन्हें अपने परिवार का आर्थिक सहयोग करने की चिंता रही। इसके लिए उन्होंने कई बार प्रयास भी किया।

विवेकानंद के हृदय में समूची मानवता के प्रति अगाध प्रेम और दया थी। लेकिन अपनी भावुकता में वे बात करते-करते उग्र हो जाते थे। आंसू भी बहाने लगते थे। सब कुछ बदल डालने की धुन और जल्दी उनपर सवार थी। एकबार तो उनके मन में आया कि वे अमेरिका से बहुत सारा पैसा कमाकर लाएंगे और भारत का उद्धार कर देंगे। मोटिवेशनल स्पीच की एक कंपनी ने देखा कि विवेकानंद के भाषण को सुनने के लिए अमरीकी टूट पड़ते हैं। विवेकानंद ने भी पैसे कमाकर भारत का कल्याण करने की धुन में उस कंपनी से पैसों के एवज में भाषण देने का करार कर लिया। उनके भाषणों से उस कंपनी ने तो खूब डॉलर कमाए, लेकिन विवेकानंद को तय रुपये नहीं दिए। विवेकानंद को भी ग्लानि हुई और उन्होंने फिर से निःशुल्क भाषण देना शुरू किया। हालांकि रामकृष्ण मिशन के रूप में उनका प्रयास यही रहा कि खोखले भाषण नहीं, बल्कि वास्तविक सेवा का कार्य कर वे देश की स्थिति में ठोस सुधार लाएं।

अत्यधिक भावुकता की वजह से ही अपने अंतिम दिनों में वे

बहुत अकेलेपन और निराशा के भी शिकार हुए। इससे उनके स्वास्थ्य पर भी बहुत बुरा असर पड़ा और दमे ने उन्हें बहुत परेशान कर दिया। इस दौरान वे कभी अपने शिष्यों से कहते— 'प्यारे बच्चो! पूरे भारत पर टूट पड़ो' (यानि जनसेवा के लिए फैल जाओ)। लेकिन जब अड़चनें सामने आती तो उद्विग्न और विचलित होकर कहते— 'कुछ नहीं, अब मैं हिमालय जाना चाहता हूँ, छोड़ो प्रपंच।' उनकी भावुकता का एक अंतिम और अविश्वसनीय उदाहरण यह है कि संन्यास ग्रहण करने के बाद भी उन्हें अपने परिवार का आर्थिक सहयोग करने की चिंता रही। इसके लिए उन्होंने कई बार प्रयास भी किया।

विवेकानंद जब अंतिम बार बीमार पड़े तो मां ने कहा कि ऐसा इसलिए हुआ क्योंकि बचपन में विवेकानंद के स्वास्थ्य के लिए मानी गई एक मनौती उन्होंने पूरी नहीं की थी। मनौती थी कि 'यदि मेरा बच्चा अच्छा हो जाए तो कालीघाट के काली मंदिर में विशेष पूजा करवाऊंगी और श्री मंदिर में बच्चे को लोटपोट कराऊंगी।' पर यह बात माताजी भूल गई थीं। आजीवन टोने-टोटकों और अंधविश्वास का विरोध करने वाले विवेकानंद भावनावश अपनी मां की बात काट नहीं सके। उन्होंने कालीघाट की आदि गंगा में स्नान करके गीले कपड़ों में ही काली-मंदिर में तीन बार लोट-पोट किया और फिर होम भी किया। इसके कुछ दिनों बाद ही 4 जुलाई 1902 को उनका देहांत हो गया। उनकी मां का निधन उनकी मृत्यु के नौ वर्ष बाद हुआ।

कुछ लोग मानते हैं कि विवेकानंद की यही भावुक क्रांतिकारिता उन्हें एक अलग प्रकार का उग्रपंथी विद्रोही तक बना सकती थी। लेकिन रामकृष्ण परमहंस ने उनके भीतर जल रही अनियंत्रित आग पर भक्ति और धर्म से भरी करुणा का जल छिड़क दिया। हालांकि ऐतिहासिक विश्लेषणों में 'यू होता तो क्या होता' वाले चिंतन का कोई स्थान नहीं है, फिर भी विवेकानंद जैसे भावुक क्रांतिकारी की असमय मृत्यु जिस ऐतिहासिक मोड़ पर हुई उसे देखते हुए कुछ बातें सहज ही ध्यान में आती हैं।

उनके निधन के तेरह साल बाद गांधीजी भारत आये थे जो कमोबेश उनकी पीढ़ी के ही थे। भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस पहले ही दस्तक दे चुकी थी। तिलक, राजगोपालाचारी और मौलाना आज़ाद जैसे पंडित पूरी तरह राजनीति में उतर चुके थे। सांप्रदायिक मुस्लिमवाद और हिंदूवाद का खुलकर उदय हो चुका था। दंगों का सिलसिला शुरू हो चुका था। भगतसिंह और चन्द्रशेखर आज़ाद जैसे युवकों में सशस्त्र क्रांति को लेकर आकर्षण बढ़ चला था। बोल्शेविक क्रांति के बाद दुनिया भर में समाजवाद और साम्यवाद के नए रूप सामने आने लगे थे। पेरियार और अंबेडकर के रूप में जाति और पुरोहितवाद विरोधी आंदोलन एक नई शक्ति ले चुका था। ऐसी परिस्थितियों में क्या यह देखना दिलचस्प नहीं होता कि विवेकानंद अगर थोड़े समय और होते तो क्या करते? बेशक, लगातार सीखने और तेजी से बदलने वाले धुन के पकड़े विवेकानंद थोड़ा और जीते, तो शायद कुछ और ही होते! साभार : सत्याग्रह

---

## जब अमेरिका के गांधी मार्टिन लूथर किंग ने अपनी भारत यात्रा को अहिंसाधाम की तीर्थयात्रा कहा

■ अव्यक्त

---



क्या आपने कभी सुना है कि यदि हवाई जहाज उड़ते हुए पायलटों को पता चले कि उनके जहाज में कोई क्रांतिकारी एक सामान्य यात्री के रूप में यात्रा कर रहा है, तो वे कॉकपिट से बाहर आकर हवा में ही उसका ऑटोग्राफ मांगने लगे। भारतीय पायलटों ने ऐसा एक बार नहीं कई बार किया, और वे महान क्रांतिकारी थे मार्टिन लूथर किंग जूनियर। किंग जूनियर के प्रति पूरे भारत में इतना प्रेम था और उनके आंदोलनों को भारतीय प्रेस में भी इतना अधिक कवरेज मिला था कि कई बार गांवों और कस्बों में

भी उन्हें आसानी से पहचान लिया गया। महात्मा गांधी तो कभी अमेरिका नहीं गए, लेकिन अमेरिकी समाज ने किंग जूनियर में ही अपनी तरह के गांधी की झलक देखी थी।

अमेरिका के अलाबामा राज्य के मांटगोमरी शहर की बसों में श्वेत और अश्वेत लोगों के लिए अलग-अलग सीटें होती थीं। रोज़ा पार्क्स नाम की एक अश्वेत महिला ने एक दिन एक श्वेत व्यक्ति को श्वेतों के लिए आरक्षित सीट छोड़ने से इन्कार कर दिया। रोज़ा पार्क्स को गिरफ्तार कर लिया गया।

और वहीं से शुरू हुआ अश्वेतों द्वारा पूरे बस परिवहन का बहिष्कार। 381 दिनों तक चलने वाले इस ऐतिहासिक बहिष्कार की प्रेरणा महात्मा गांधी के असहयोग और सत्याग्रह जैसे विचारों से मिली थी और मार्टिन लूथर किंग जूनियर ने इसमें एक महत्वपूर्ण भूमिका निभाई थी। इस आंदोलन के बाद अमेरिकी सर्वोच्च न्यायालय ने अलग-अलग सीटों की इस व्यवस्था को असंवैधानिक घोषित कर दिया था।

इस आंदोलन की सफलता के बाद किंग जूनियर के दोस्तों ने उनसे कहना शुरू कर दिया कि वे खुद भारत जाकर क्यों नहीं देख लेते कि जिन गांधी के वे इतने बड़े प्रशंसक हैं उन गांधी ने भारत को किस रूप में गढ़ा है। 1956 में जब नेहरू अमेरिका के एक छोटे से दौरे पर गए, तो वे चाहकर भी किंग जूनियर से मिल नहीं सके थे और उन्होंने इच्छा जताई थी कि काश! उन दोनों की भेंट हो पाती। मन तो किंग जूनियर का भी बचपन से ही था कि वे भारत आकर इसे देखें। लेकिन एक दिन डॉ लॉरेंस रेड्डीक, जो किंग के मित्र और जीवनीकार भी थे, उन्होंने किंग से कहा कि आपकी असली परीक्षा तभी हो पाएगी जब महात्मा गांधी को जानने वाले लोग आपको देखकर आपके और मांटगोमरी आंदोलन के बारे में अपनी राय दें। यह बात किंग जूनियर को छू गई। फिर क्या था किंग, उनकी पत्नी कोरेट्टा और लॉरेंस रेड्डीक तीनों ही पूरे एक महीने के लिए भारत के एक सुनियोजित दौरे पर चल पड़े।

तीन फरवरी, 1959 की मध्यरात्रि को ये तीनों ही न्यूयॉर्क से बंबई के लिए रवाना हो गए। लेकिन कुहासे के कारण स्विटजरलैंड में इनकी कनेक्टिंग फ्लाइट छूट गई और वे बहुत घुमावदार रास्ते से दो दिन देरी से 10 फरवरी को भारत पहुंचे। वे पूरे एक महीने यानी 10 मार्च तक भारत में रहे। किंग जूनियर ने अपनी इस यात्रा को अपने जीवन का आंखे खोलने वाला सबसे बड़ा अनुभव बताया था।

इस दौरान अक्सर किंग जूनियर शहरों में सुबह की सैर के लिए सड़कों पर निकल जाते और कोई न कोई उन्हें पहचान ही जाता, जो आकर उनसे पूछ लेता- 'आप मार्टिन लूथर किंग ही हैं न?' किंग ने लिखा है कि भारत में जो प्रेम उन्हें मिला उसमें उनके त्वचा के रंग ने एक अहम भूमिका निभाई। लेकिन इस भाईचारे और हृदयगत जुड़ाव का सबसे बड़ा कारण किंग की नज़र में यह था कि अमेरिका, अफ्रीका और एशिया के अल्पसंख्यक और भेदभाव के शिकार लोग प्रजातिवाद और साम्राज्यवाद रूपी सामान्य समस्या को जड़मूल से उखाड़ फेंकने के लिए एकसाथ संघर्ष कर रहे थे।

किंग ने यहां हजारों भारतीयों से संवाद किया। वे कई विश्वविद्यालयों में गए। वे भारत में पढ़ रहे अफ्रीकी छात्रों से भी मिले। उन्होंने जनसभाओं को भी संबोधित किया। उनके हर कार्यक्रम में बड़ी संख्या में लोग उन्हें सुनने पहुंचते थे। एक तरफ जहां किंग मनुष्य-मनुष्य के बीच भेदभाव को मिटाने की बात करते थे। युद्ध और हथियारों को मिटाकर प्रेम, शांति और भाईचारे की बात करते थे, वहीं लोगों का बड़ा जोर होता था कि उनकी पत्नी कोरेट्टा नीग्रो स्परिचुअल वाले गीत गाकर सुनाएं। प्रायः हर कार्यक्रम में वे गाती भी थीं। दिल्ली, कलकत्ता, बंबई, मद्रास और अन्य बड़े शहरों में उन्होंने प्रेस-वार्ताएं भी कीं। अपने पूरे दौरे में उन्हें भरपूर कवरेज मिली और वे अखबारों में छापे ही रहे।

भारत के गरीबों की स्थिति से किंग जूनियर बहुत विचलित हुए थे। एक तरफ फुटपाथ पर सोते हुए लोग, भयानक कुपोषण और भुखमरी, और दूसरी ओर यहां के अमीरों की जीवन-शैली, आवश्यकता से अधिक भोजन और सज-धज को देखकर उन्होंने लिखा है कि 'बुर्जुआ वर्ग— चाहे वह श्वेत हो, अश्वेत हो या भूरा हो— वह दुनियाभर में एक ही जैसा व्यवहार करता है।' जिस रात प्रधानमंत्री नेहरू ने किंग दंपति को रात्रि के भोजन पर आमंत्रित किया था, उनके स्वागत के लिए लेडी एडविना माउंटबेटन जैसी एक और खास अतिथि वहां पहले से मौजूद थीं।

किंग दंपति की यात्रा के दौरान भूदान आंदोलन जोरों पर था। इस आंदोलन ने और विनोबा के व्यक्तित्व ने उन्हें बहुत प्रभावित किया था। वे विनोबा और जयप्रकाश नारायण से मिले भी। पूरी दुनिया का पूर्ण निःशस्त्रीकरण और असैन्यीकरण के विनोबा के विचार ने किंग को खासतौर पर प्रभावित किया था। नौ मार्च, 1959 को आकाशवाणी से प्रसारित अपने विदाई भाषण में उन्होंने इसका विशेष रूप से जिक्र किया था। उन्होंने अपनी आत्मकथा में लिखा है, 'भारत एक ऐसी भूमि है जहां आज भी आदर्शवादियों और बौद्धिकों का सम्मान किया जाता है। यदि हम भारत को उसकी आत्मा बचाए रखने में मदद करें, तो इससे हमें अपनी आत्मा को बचाए रखने में मदद मिलेगी।'

अपनी आत्मकथा में किंग ने अपनी भारत यात्रा को 'अहिंसा-धाम की तीर्थयात्रा' का नाम दिया है। उन्होंने लिखा है- 'अहिंसक साधनों से अपने लोगों के लिए स्वतंत्रता प्राप्त करने के दृढ़तर संकल्प के साथ मैं अमेरिका लौटा। भारत यात्रा का एक परिणाम यह भी हुआ कि अहिंसा के बारे में मेरी समझ बढ़ी और इसके प्रति मेरी प्रतिबद्धता और भी गहरी हो गई।'

साभार : सत्याग्रह

## 8 मार्च, महिला दिवस पर

श्रद्धा, मध्यमवर्गीय परिवार की लड़की। उसने बीते साल आर्ट्स साइड से ग्रेजुएशन कंप्लीट किया है और साल 2019 में आई.एस.डी. से जुड़ी। चंद रोज पहले बातों-बातों में उससे चर्चा होने लगी कि “क्या नारी सिर्फ माँ, बहन, बेटी या पत्नी ही है या उससे परे उसका अपना स्वतंत्र अस्तित्व भी है।” अपने अंदर के द्वंद को तलाशते हुए उसने अपने विचार हर्फ-दर-हर्फ कागज में दर्ज किए। अपने वजूद को तलाशते उसके यह सवाल-जवाब स्वयं के साथ उस समाज से भी हैं, जिसमें वह घुटनभरी साँसों के साथ जीती है। उसकी उन घुटनभरी साँसों को आप भी महसूस कीजिए। और ईमानदारी से झाँकिए अपने अंतर्मन में और फिर एक नज़र अपनी चार दीवारी में डालने की कोशिश जरूर कीजिएगा। —आईएसडी



श्रद्धा रावत, आईएसडी

नहीं, नारी सिर्फ माँ, बहन, बेटी या पत्नी ही नहीं है। उसका अपना स्वतंत्र अस्तित्व भी है। पर फिर एक सवाल मुझे सोचने को मजबूर करता है कि जिस शिद्दत के साथ मैंने प्रश्न के संदर्भ में जवाब ‘नहीं’ से शुरू किया है, क्या यही शिद्दत मेरी खुद की ज़िंदगी में या जिस समाज में मैं जीती हूँ, वहाँ नज़र आती है? सवाल शायद खुद में ही जवाब है, वर्ना क्योंकि मेरे मन में यह सवाल आता। आधी आबादी से संबोधित नारी जगत तो वैसे ही आधा-अधूरा जीवन जीने को अभिशप्त है। तो क्योंकि मैंने प्रथम पंक्ति वाली लाइन लिखी। कहीं यह मेरे अंतर्मन की स्त्री तो नहीं? या फिर यह विरोध है, मात्र विरोध। अंततः रोजमर्रा की ज़िंदगी में उसका साबिका भी उन छोटे-छोटे सवालों और बंदिशों से ही होता है, जिन्हें समाज ने गढ़ा है; पितृसत्तात्मक समाज ने। जो मापदंड हैं एक चरित्रवान स्त्री के लेकिन यह चरित्र भी तो समाज का ही गढ़ा हुआ है। उसी समाज का जिसमें आए दिन स्त्रियाँ बलात्कार का शिकार होती हैं और दोषी भी पीड़िता को ही ठहराया जाता है। तर्क वही बेतुका-सा ऐसे कपड़े क्यों पहने थे। बलात्कार तो होना ही था। मर्द बेचारा क्या करे। क्या घर में इनकी अपनी माँ-बहन-बेटियाँ इनसे सुरक्षित रह पाती होंगी? शायद नहीं। वर्ना आए दिन अखबार की सुर्खियों में स्याह रंग यूँ बेइज्जत होता नज़र न आता। ये सुर्खियाँ यह तस्दीक भी करती नज़र आती हैं कि बलात्कार की घटनाएं उन घरों में भी घटित होती हैं जहाँ परदा प्रथा का चलन भी है। तो क्या

समाज द्वारा गढ़े गए मापदंड बेमानी हैं? वरना क्योंकि परदा प्रथा तार-तार होती।

लगता है बलात्कार की शिकार हर एक महिला रोज-ब-रोज होती है। कभी सरेराह चलते—अलग-अलग जगहों में—अनजानों की निगाहों का, तो ऑफिस में परिचितों की निगाहों का। जो इज्जत को कुछ यूँ तार-तार करती हैं कि अपने में सिमटी स्त्री... अपने से ही नज़रें नहीं मिला पाती। धिनौनी आँखें उन्हें बेचैन किए देती हैं कि न जाने वे कब सुलग उठें। क्या इन शिकारी नज़रों के कारण ही लड़कियों की आवाजाही पर पाबंदी रहती है? परंतु स्त्री ही इन पाबंदियों से पाबस्त क्यों? घृणित कार्य पुरुष ने किया तो फिर इज्जत का मुलम्मा स्त्री के सिर-माथे क्यों? और यह सच कमोबेश उस पूरे समाज का सच है जिसे आधी आबादी के नाम से संबोधित किया जाता है।

आखिरकार कब तक इन शिकारी निगाहों के कारण हमारी आवाजाही पर पाबंदी लगी रहेगी? कब तक स्त्रियाँ गुमसुम अपने आप में ही सिमटी रहेंगी? क्यों नहीं मध्यमवर्गीय परिवार की स्त्रियाँ उम्मीद की फूटती किरण #MeToo के साथ अपनी आवाज़ बुलंद करती? शायद इसलिए कि घर-परिवार में ‘तेज आवाज़ में मत बोलो, यह लड़कियों को शोभा नहीं देता’ जैसी अनगिनत सीखें बचपन से ही उन्हें घुट्टी की तरह पिला दी जाती हैं और एक स्त्री मन और आत्मा से परे देह मात्र रह जाती है और साथ ही चस्पा हो जाती है इज्जत। आखिर किसी स्त्री की इज्जत चले जाने की बात समाज में

क्यों स्थापित रहनी चाहिए? इसी बात के कारण सदियों से महिलाओं की स्वतंत्रता पर नियंत्रण रखा गया है। सभ्यता भले चांद पर पहुँचने का दम भरती है, पर औरतें? वे तो सीता मैय्या की तरह धरती की गोद में—जो स्वयं गलने-सड़ने के अभिशाप से ग्रस्त हैं—समा जाने को आज भी अभिशप्त है। सवाल तो मेरा सीता मैय्या से भी है कि काश! तुम ही धरती में न समाती। एक बार अपनी आवाज़ बुलंद करती तो शायद तस्वीर का रुख कुछ और ही होता।

समाज में बेटी को एक बोझ की तरह देखने के साथ-ही-साथ पराया धन भी समझा जाने लगता है। शादी की रस्म अदायगी के दौरान एक रस्म कन्यादान की भी होती है। स्त्री क्या कोई वस्तु है, जिसका दान किया जाता है? जी नहीं, स्त्री वस्तु नहीं। अब धर्म-ग्रंथों से व्यर्थ के तर्क न तलाशिएगा, क्योंकि वे भी आपकी आधी आबादी ने ही गढ़े हैं। उसी आधी आबादी ने जो बाकी आधी आबादी को वस्तु के तौर पर देखने के साथ-साथ बोझ भी मानता है। और बोझ तो स्त्री वाकई में है लेकिन उन अर्थों में नहीं जिनमें आप अपनी परिभाषाएं तलाश पाएं। इस बोझ के अर्थ गहरे हैं। यह ऐसा बोझ है जिसके तले पूरा समाज दबा पड़ा है। यह बोझ है गर्भ के नौ महीनों का, एक माँ की प्रसव पीड़ा का, दुनिया-जहाँ में नवजात की रग-रग पे अपने सीनों के चिरागों से लहू बहाने का, जीवन के सफ़र को क्रतरा-क्रतरा सींचने का, ममतामयी गोदी का जिसका कोई सानी नहीं, खुद रातों को जागकर तुम्हें मीठी नींद सुलाने का। ये तो चंद महीनों का बोझ है। उम्र भर के हिसाब का क्या? जिन्हें वह

अनगिनत भूमिकाओं में बंधकर निभाती है। यदि स्त्री के गृहिणी पक्ष की ही बात करें तो कभी हिसाब लगाइएगा 24x7 की सेवा में उपलब्ध एक इंसान के उन अनगिनत कार्यों की जो स्त्री के पल्लू से ताजिंदगी बंधे रहते हैं। जिसके बदले वह पाती है एक संबोधन "Just A House Wife" इस House Wife की व्यथाएं बड़ी हैं। पर उसके अंतर्मन की थाह कोई लेता नहीं। इस सबके बावजूद आखिरकार उसकी भावनाएं कैसे और क्योंकि बची रह जाती हैं, जिन्हें वह जिंदा दफन कर चुकी होती है। आजकल इस House Wife से इतर आजादी के नाम पर एक नई स्त्री का आगमन भी हुआ है, जिसे Working Woman का दर्जा दिया जाता है। आजादी के नाम पर दो पाटों के बीच में पिसती Working Woman. संदेह के घेरे में जीती Working Woman.

हालांकि आज आवाज़ है, कानून हैं फिर भी स्त्रियों की तकलीफों का, उनके सवालों का यह सिलसिला थमा नहीं है। इन सवालों की फेहरिस्त लंबी है। सवालों की इस फेहरिस्त से मुक्ति का मार्ग नारी-विद्रोह के साथ-साथ मर्द के पुरुष बनने की चाह से होकर भी गुजरता है। तो आइए हिम्मत कीजिए और अपने अंतर्मन को टटोलते हुए अपनी नैतिक और सामाजिक जिम्मेदारी निभाते हुए अपने नज़रिए, अपने बर्तावों के बारे में विचारिए। विचारों को कथनी और करनी में बदलिए। ताकि जिस वाक्य से मैंने अपना जवाब दिया वह सार्थक हो; और मेरी देह में बसे मेरे मन-प्राण मेरे आंचल में संजोए मुखालिफ रंगों से सराबोर हो सकें।



झूठ और मक्क की चादर में लिटा कर मुझको  
गर्क कर दो मुझे इतिहास के पन्नों में अभी  
रौंद कर क्रदमों तले धूल बना दो मुझको  
जिस तरह धूल उठे मैं भी उठूंगी फिर से

माया एंजेलो की कविता 'स्टिल आई राइज़' का अनुवादित अंश

### इंस्टीट्यूट फॉर सोशल डेमोक्रेसी

फ्लैट नम्बर-110, नम्बरदार हाउस, 62-ए, लक्ष्मी मार्केट, मुनिरका, नई दिल्ली-110067,

भारत, टेलीफोन : 091-26177904, टेलीफैक्स : 091-26177904

ई-मेल : notowar.isd@gmail.com / वेबसाइट : www.isd.net.in

केवल सीमित वितरण के लिए

मुद्रण : डिजाइन एण्ड डाइमेंशंस, एल-5 ए, शेख सराय, फेज-II, नई दिल्ली-110017